ABHINAVASTOTRĀVALIḤ

of

Abhinavaguptapādācārya

(Text, Transliteration, Hindi & English Translation along with Elaborated Introduction etc.)

Edited & Translated by

Shashishekhar Chaturvedi

Chaukhamba Surbharati Prakashan

Varanasi

The

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHMALA

502

ABHINAVASTOTRĀVALIḤ

of

Abhinavaguptapādācārya

(Text, Transliteration, Hindi & English Translation along with Elaborated Introduction etc.)

Edited & Translated by

Dr. SHASHISHEKHAR CHATURVEDI

M.A., Ph.D., Sāhityācārya & Ex. U.G.C. J.R.F. & S.R.F.
Deptt. of Sanskrit, Faculty of Arts, Banaras Hindu University
Head, Department of Sanskrit
Jhambaba P. G. College
Surjupur, Ambedkarnagar

CHOWKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI

।। श्रीः ।।

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

५०२

अभिनवगुप्तपादाचार्यप्रणीता

अभिनवस्तोत्रावलिः

(अभिनवगुप्त के स्तोत्रों का हिन्दी-अंग्रेजी अनुवाद एवं विस्तृत भूमिका सहित)

सम्पादक एवं अनुवादक

डॉ० शशिशेखर चतुर्वेदी

एम.ए. (संस्कृत), पीएच्.डी., साहित्याचार्य एवं पूर्व यू०जी०सी०,
कनिष्ठ एवं वरिष्ठ अनुसन्धाता, संस्कृत विभाग,
कलासङ्काय, बनारस हिन्दू यूनिवरसिटी
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
झामबाबा पी०जी० कॉलेज
सूरजूपूर, अम्बेडकरनगर

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

ISBN : 978-93-80326-61-0

प्रकाशक :

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के-37/117 गोपाल मंदिर लेन, पोस्ट बॉक्स न. 1129

वाराणसी-221001

दूरभाष : (0542) 2335263

प्रथम संस्करण : 2011

मूल्य : 300.00

अन्य प्राप्तिस्थान :

चौखम्बा पब्लिशिंग हाऊस

4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)

गली न. 21-ए, अंसारी रोड़, दरियागंज

नई दिल्ली - 110002

दूरभाषः (011) 32996391, टेलीफैक्सः (011) 23286537

*

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38. यू. ए. बंग्लो रोड़, जवाहर नगर,

पोस्ट बॉक्स न. 2113, दिल्ली - 110007

*

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)

पोस्ट बॉक्स न. 1069, वाराणसी-221001

मुद्रक

डीलक्स ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली

Foreword

Abhinavagupta was a versatile genius. He was a philosopher, poet and logician. As an encyclopaedic thinker, as a brilliant commentator and as a devoted poet, he reigns supreme. He was a prolific author. He wrote forty-five works covering various branches of philosophy and literature. His works are marked by originality and profundity. He founded new schools of Metaphysics and Aesthetics.

Abhinavagupta was a mystic and also a rationalist. He has significantly added new chapters to the history of Indian Aesthetics. His magnum opus the Tantrāloka, his searching Locana on the Dhvanyāloka of Ānandavardhana and his erudite commentary Abhinavabhāratī on the Nāṭyaśāstra of Bharata Muni are monumental works.

Abhinavagupta's contribution to the stotra literature has a distinct character and tenacious grip. His stotras have richness of thought, devotional fragrance, literary beauty and invigorating spirit. So the study of the stotras of Abhinavagupta is rewarding. With this puspose, Dr. Shashi Shekhar Chaturvedi has translated Abhinava's stotras into English and Hindi under the title 'Abhinavastotrāvaliḥ', which shows his genuine interest in the discipline.

I recommend the work to the students of literature and Kāśmīra Śaivism and hope it will be well received.

14.07.08
N 1/30, A-9
Nagwa
Varanasi-221005

A.N. Pandey
Former Professor and Head
Dept. of Sanskrit
Mahatma Gandhi Kashividyapith,
Varanasi

प्राक्कथन

भारतीय षड्दर्शनों के विपरीत एक ऐसी दार्शनिक विचारधारा का भारत की कश्मीरघाटी में उदय और विकास हुआ जिसे सम्पूर्ण विश्व आज काश्मीर शैव दर्शन के नाम से जानता है । भारत के अन्य दर्शन जहाँ केवल भोग अथवा मोक्ष का प्रतिपादन करते हैं वहीं काश्मीर शैव दर्शन जगत् और ब्रह्म (शिव) दोनों को सत् मानते हुए भोग और मोक्ष दोनों का प्रतिपादन करता है । इस प्रकार व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के विकास में इस दर्शन की उपादेयता स्वत: सिद्ध है ।

आचार्य अभिनवगुप्तपाद इसी दर्शन के सर्वश्रेष्ठ आचार्य हैं । इन्होंने शिव और शक्ति की स्तुति में कुछ स्तोत्रों की रचना की है जिनका पहला हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद इस संस्करण में प्रस्तुत किया गया है और यह सत्प्रयास हमारे पुत्रतुल्य डॉ. शशिशेखर चतुर्वेदी ने किया है । इन्होंने हिन्दी भाषा प्रेमियों और हिन्दी न जाननेवाले अन्य विदेशी आदि संस्कृत-भाषा अनुरागियों के लिए उपर्युक्त दोनों भाषाओं में सटीक और सरल अनुवाद कर इसे हृद्य बनाते हुए सभी लोगों के लिए सहज उपलब्ध करा दिया है । अत: इस कार्य के लिए मैं इनको हृदय से धन्यवाद देता हूँ और विश्वास करता हूँ कि ये भविष्य में भी इस प्रकार के स्तरीय कार्य करते रहेंगे ।

प्रो. एस.पी.ओझा
कुलपति
चौधरी चरण सिंह
मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ

अनुवादक की कलम से

भक्तिमार्ग अन्य सभी मार्गों से उत्तम होता है । भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा कि ज्ञानयोग से पराभक्ति की प्राप्ति होती है और पराभक्ति से भगवत्प्राप्ति । भगवत्प्राप्ति ही मोक्ष है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

—भ.गी. १८।५४

और—

भक्त्या माभिजानाति यावन्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

—भ.गी. १८।५४

स्तोत्र ही उस पराभक्ति और मुक्ति का सर्वोत्तम उपाय है । महाकवि कालिदास ने भी 'स्तोत्रं कस्य न तुष्टये' कहकर स्तोत्रों के महत्त्व का प्रतिपादन किया है । प्रसिद्ध है कि अपने समय का सवश्रेष्ठ पण्डित रावण 'शिवताण्डवस्तोत्र' से भगवान् शङ्कर को प्रसन्नकर अपना मनोवाञ्छित प्राप्त करता था । अनेक विद्वानों के द्वारा रचित महान् स्तोत्रों की शृंखला में काश्मीर शैवदर्शन के सर्वश्रेष्ठ आचार्य अभिनवगुप्तपाद के द्वारा रचित स्तोत्र भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं । इन स्तोत्रों का अद्यावधि कोई अनुवाद नहीं हो पाया था । प्रस्तुत संस्करण में अभिनवगुप्त के स्तोत्रों का हिन्दी और आंग्लभाषा प्रेमियों—दोनों के लिए अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है ।

'अभिनवस्तोत्रावलिः' शीर्षक के अन्तर्गत भैरवावतार अभिनवगुप्तपादाचार्य के द्वारा रचित और वर्तमान में प्राप्त होने वाले कुल दश स्तोत्रों का अनुवाद किया गया है । इनके स्तोत्रों में शिव और उसकी पराशक्ति की स्तुति की गयी है । इसमें शिव के विश्वोतीर्ण और विश्वमय अवस्था के साथ-साथ उसकी परा नामक शक्ति जो पुराणादि में लक्ष्मी, सरस्वती आदि अनेक नामों से जानी जाती है, का वर्णन है । इन स्तोत्रों में ज्ञानयोग एवं भक्तियोग की निर्मल धारा अविरल प्रवाहमान है । अन्य स्तोत्रों की अपेक्षा अभिनवगुप्त के स्तोत्र अलग महत्त्व रखते हैं क्योंकि इनमें भक्ति-भावना के साथ-साथ काश्मीर शैवदर्शन के

तत्त्वों एवं सिद्धान्तों का भी समावेश है । इसलिए ये स्तोत्र शोधकार्य की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

प्रस्तुत संस्करण में अनुवाद करते समय यह ध्यान रखा गया है कि भावों की अभिव्यक्ति में कोई स्खलन न हो फिरभी त्रुटियाँ मानव स्वभाव हैं इसलिए पाठकों एवं विद्वानों से उचित सुझाव अपेक्षित हैं जिनका बाद के संस्करण में संशोधन अवश्य कर दिया जायेगा ।

यह संस्करण दोनों भाषाओं के प्रेमियों, विद्यार्थियों और विद्वानों के लिए उपादेय सिद्ध हो, यही भगवती पराशक्ति से प्रार्थना है । प्रस्तुत पुस्तक को पूर्ण करने में मेरे पिता प्रो. राधेश्याम चतुर्वेदी, का.हि.वि.वि. का महत्त्वपूर्ण योगदान है, बिना उनके सहयोग के यह पुस्तक पूर्ण न होपाती अत: मैं उनका अत्यन्त ऋणी हूँ । संस्कृत जगत् के मूर्धन्य विद्वान् प्रो० अमरनाथ पाण्डेयजी ने मेरे कार्य को योग्य समझकर जो आशीर्वचनस्वरूप आंग्लभाषा में विद्वतापूर्ण 'आमुख' लिखा, उसके लिए मैं उनके प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ । प्रो. एस.पी. ओझा जी के प्रति पुस्तक के प्राक्कथनरूपी आशीर्वचन लिखने के लिए कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ ।

प्रो० वाचस्पति उपाध्याय, कुलपति श्री ला०ब०शा० संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली के भी सुझाव और प्रोत्साहन के लिए अत्यन्त आभारी हूँ । अन्य विद्वानों प्रो० आर०सी० पण्डा, प्रो० पी०डी० सिंह (सभी संस्कृत, बी०एच०यू०), का भी आभारी हूँ । डॉ० ओ०पी० उपाध्याय, सी०एम०ओ०, बी०एच०यू० और प्रो० बी०एल० त्रिपाठी, अंग्रेजी विभाग, बी०एच०यू० के द्वारा इस पुस्तक के अंग्रेजी रूपान्तरण में किये गये सुधारों के लिए आभार व्यक्त करता हूँ । अपने अनुजद्वय डॉ० विजयनारायण तिवारी और डॉ० मृदुल तिवारी को धन्यवाद देता हूँ । अपनी दोनों पुत्रियों निष्ठा, आस्था और अपनी धर्मपत्नी श्रीमती विभा चतुर्वेदी और डॉ० रीमा को उनके द्वारा समय-समय पर किये गये सहयोग के लिए धन्यवाद देता हूँ । पुस्तक की उत्तम प्रिंटिङ्ग कार्य के लिए श्रीरामरञ्जन मालवीय एवं प्रकाशन के लिए नवीन जी (चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन) को धन्यवाद देता हूँ ।

विनयावनत

शशिशेखर चतुर्वेदी

From the Translator's Pen

Bhaktimārga (devotion-path) is considered excellent among all the paths of salvation. Lord Śrī Kṛṣṇa preaching to Arjuna said that devotion is the most easy path by which one can attain liberation (or God) as—

भक्त्या मामभिजानाति यावन्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
—भ.गी. १८।५४

Bhaktyā mābhijānāti yāvanyaścāsmi tattvataḥ ।
Tato māṁ tattvato jñātvā viśate tadanantaram ॥
—Bh.G., 18।54

The stotras (hymns of praise) are very usual means of that Parā-bhakti and liberation. The great poet Kālidāsa has propounded the significance of the stotra—*'Stotraṁ kasya na tuṣṭaye'* in regard to please any being. It is well known that a great Paṇḍita of his time, Rāvaṇa having appeased Lord Śiva got all the things what ever he wanted. In the chain of the great stotras composed by different scholars, the stotras of Abhinavaguptapādācārya, the greatest scholar of Kāśmīra Śaiva philosophy, has assigned important place to both aspects of the Stotras, the philosophical and the devotional. The stotras of Abhinavagupta, translated in this edition have not been translated by any scholar till the present time. I am presenting the translation of the stotras of Abhinavagupta under the title *"Abhinavastotrāvaliḥ"* in this edition in Hindi as well as in English. In the translated stotras of Abhinavagupta, the tranascendental and the immanant states of Lord Śiva with his power Parā which is known by different names like Lakṣmī, Sarasvatī etc. in the Purāṇas and other scriptures are described. In these stotras, a very sacred, religious and philosohic stream of Jñānayoga and Bhaktiyoga is always current. These stotras have distinct importance in comparison to others, because the

elements and the principles of Kāśmīra Śaiva philosophy with feelings of devotion are delineated here. Therefore, these stotras are very significant from the research point of view.

While translating the text, full caie has been taken that the translated text remains quite close to the original. The suggestions from readers and scholars are always welcome which would be duly incorporated in the next edition of the work.

I am very grateful to my father Prof. Radheshyam Chaturvedi without whom I would have not been able to complete Stotrāvali. I am also thankful to Prof. Amar Nath Pandey, an extra-ordinary scholar of Sanskrit for his foreword to this book. I am also grateful to Prof. Vachaspati Upadhyaya, V.C., L.B.S. Sanskrit Vidyapith, Prof. R.C. Panda, Sanskrit Faculty B.H.U., Prof. P.D. Singh, Dr. O.P. Upadhyaya, C.M.O., B.H.U. and Dr. Sudhakar Malviya for their advice and inspiration. I also pay humble gratitude to Prof. B.L. Tripathi Dept. of English B.H.U. for his valuable suggestions. I wish to thank heartly Dr. V. N. Tiwari & Dr. Mridul Tiwari for their co-operation. I am also grateful to my wife Smt. Vibha Chaturvedi and daughters Nishtha and Astha and also to Dr. Reema for their love and inspiration.

For the publication and excellent printing I also thank Navinji and Sri Ramaranjan Malviya. This edition should prove useful to the lovers of Sanskrit and research scholars, My sincere solicitation to the Goddess Parāśakti.

Shashishekhar Chaturvedi

...❀...

विषयानुक्रमणिका
(Contents)

List of Abbreviations

A.Bh.	Abhinava Bhāratī
A.K.	Ādhāra Kārikā
Bh.G.S.	Bhagavad Gītārtha Saṅgraha
Dh.S.	Dhyāna Ślokaḥ by Madhurāja Yogin
E.H.I.	Early History of India by V.A. Smith
Gu.Pa.	Gurunātha Parāmarśa by Madhurāja Yogin
M.V.V.	Mālinī Vijaya Vārtika
P.T.V.	Parā Triṁśikā Vivaraṇa
R.P.	Rahasya Pañcadaśikā
S.C.	Stava Cintāmaṇi
S.D.	Śaṅkara Digvijaya
T.C.	Tanjore Catalogue

भूमिका

स्तोत्रों के इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा

महाकवि कालिदास के 'स्तोत्रं कस्य न तुष्टये' इस कथन के अनुसार संसार में ऐसा कोई प्राणी नहीं है जो स्तुति से प्रसन्न न होजाय । राजनीतिक ग्रन्थों में भी यह कहा गया है कि 'साम' अथवा 'स्तुति' के द्वारा राक्षसादि भयङ्कर सत्त्व भी वशीभूत होजाते हैं । इसी कारण दण्ड, भेद, दानादि नीतियों में 'साम' अथवा स्तुति (प्रशंसा) को ही सर्वोत्तम माना गया है । इसी कारण वेदों से लेकर इतिहास, पुराण और काव्यों में सर्वत्र सूक्त और स्तोत्र भरे पड़े हैं । वेद सम्पूर्ण विद्याओं और संस्कृत वाङ्मय की प्रत्येक विधा का मूल उत्स है, ऐसा प्रायः सभी विद्वान् एक स्वर से स्वीकार करते हैं । ऋग्वेद में पञ्चमहाभूतों—क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर की सूक्तों के रूप में बारम्बार स्तुति की गयी है । अग्निसूक्त, सवितृसूक्त, वरुणसूक्त, मरुत् सूक्तादि इस कथन के ज्वलंत प्रमाण हैं । वैदिकोत्तर काल में वेदों में स्तुत इन पञ्चमहाभूतस्वरूप प्रतीकात्मक प्राकृतिक शक्तियों को स्वरूपात्मक रूप प्रदान कर दिया गया । 'स्तोत्र' शब्द 'स्तु' धातु और 'ष्ट्रन्' प्रत्यय से निष्पन्न है जिसका अर्थ होता है—प्रशंसा, स्तुति, प्रशस्ति अथवा स्तुतिगान ।

महर्षि वाल्मीकि द्वारा रचित 'रामायण' संस्कृत का आदि महाकाव्य है और इस महाकाव्य में उल्लिखित 'आदित्यहृदयस्तोत्र' लौकिक संस्कृत का पहला स्तोत्र है जिसमें आदित्य की अनेक नामों से स्तुति की गयी है । महर्षि वाल्मीकि के द्वारा ही रचित भगवती गङ्गा की स्तुति के रूप में 'गङ्गाष्टकम्' भी महत्त्वपूर्ण स्तोत्र है । भगवान् राम के समकालीन महान् पण्डित रावण के द्वारा रचित 'शिवताण्डवस्तोत्र' लौकिक संस्कृत में उपलब्ध प्राचीनतम् स्तोत्रों में से एक है । लौकिक संस्कृत का दूसरा उपजीव्य काव्य अथवा इतिहास 'महाभारत' है । इसमें अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्ण के संवाद रूप में प्राप्त 'श्रीविष्णोरष्टाविंशति नामस्तोत्र' में भगवान् विष्णु के अट्ठाइस नामों का सङ्कीर्तन और इसी काल में महाभारत और अनेक पुराणों के रचयिता महर्षि व्यास के द्वारा रचित 'श्रीविश्वनाथाष्टकम्' और 'भगवतीस्तोत्रम्' स्तोत्र महत्त्वपूर्ण है । महाभारत में ही भगवान् शिव की स्तुति में प्रयुक्त श्लोक भी प्राप्त होते हैं जैसे पाशुपतास्त्र की प्राप्ति के लिए अर्जुन द्वारा की गयी भगवान् शङ्कर की

स्तुति । श्रीमद्भगवद्गीता में ब्रह्मविद्या के प्रसङ्ग में कृष्णार्जुन संवादरूप में प्राप्त 'सप्तश्लोकी गीता' नामक स्तोत्र भी महत्वपूर्ण है ।

'श्रीमद्भागवत महापुराण' के चतुर्थ स्कन्ध के नवें अध्याय में भक्त ध्रुव के द्वारा की गयी भगवान् विष्णु की स्तुति और सप्तम स्कन्ध के नवें अध्याय में भक्त प्रहलाद के द्वारा की गयी भगवान् विष्णु के नृसिंह रूप की स्तुति, प्राचीन स्तोत्रों की श्रेणी में आते हैं । इसी महापुराण के द्वितीय स्कन्ध के नवें अध्याय में भगवद्-ब्रह्मसंवाद नामक सन्दर्भ में 'चतुश्श्लोकी भागवत' और भीष्म के द्वारा की गयी भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति के रूप में 'भगवत्स्तुतिः' नामक स्तोत्र महत्त्वपूर्ण हैं । अध्यात्मरामायण के अरण्यकाण्ड में महात्मा जटायु के द्वारा और युद्धकाण्ड के तेरहवें सर्ग में ब्रह्मदेव के द्वारा की गयी राम की स्तुति भी ध्यातव्य है ।

आठवीं सदी के महान् विद्वान्, भगवान् शङ्कर के अवतार, अद्वैतवेदान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य शङ्कर के द्वारा अनेक देवी-देवताओं की स्तुति हेतु रचे गये अनेक स्तोत्र प्राप्त होते हैं जिनका विवरण दी गयी सूची में द्रष्टव्य है । उपर्युक्त के अतिरिक्त अनेक देवी-देवताओं की स्तुति में श्रीरामानन्दाचार्य, तुलसीदास, यमुनाचार्य, ब्रह्मानन्दाचार्य, श्रीकूरेशस्वामी, श्रीवेंकटनाथ, पृथिवीपतिसूर और जयदेव आदि अनेक विद्वानों के स्तोत्र प्राप्त होते हैं । यहाँ उन स्तोत्रों के विषय में अत्यन्त विस्तृत रूप से उल्लेख करना हमारा लक्ष्य नहीं है । कुछ प्रमुख स्तोत्रों, स्तोत्रों के देवी-देवताओं और उन स्तोत्रों के रचयिताओं की सूची इस प्रकार है—

(क) विनयस्तोत्र—

१. षट्पदी (श्रीशङ्कराचार्य)

२. श्रीहरिशरणाष्टकम् (स्वामी श्रीब्रह्मानन्द)

३. न्यासदशकम् (श्रीवेंकटनाथ)

४. परमेश्वरस्तोत्रम्

(ख) शिवस्तोत्र—

५. शिवमानसपूजा (श्रीशङ्कराचार्य)

६. श्रीशिवापराधक्षमापनस्तोत्रम् (श्रीशङ्कराचार्य)

७. वेदसारशिवस्तवः (श्रीशङ्कराचार्य)

८. शिवाष्टकम् (श्रीशङ्कराचार्य)

९. श्रीशिवपञ्चाक्षरस्तोत्रम् (श्रीशङ्कराचार्य)

१०. शिवताण्डवस्तोत्रम् (श्रीरावण)
११. श्रीरुद्राष्टकम् (गोस्वामी श्रीतुलसीदास)
१२. श्रीपशुपत्यष्टकम् (श्रीपृथ्वीपतिसूरि)

(ग) शक्तिस्तोत्र—
१३. ललितापञ्चकम् (श्रीशङ्कराचार्य)
१४. मीनाक्षीपञ्चरत्नम् (श्रीशङ्कराचार्य)
१५. देव्यपराधक्षमापनस्तोत्रम् (श्रीशङ्कराचार्य)
१६. भवान्यष्टकम् (श्रीशङ्कराचार्य)
१७. आनन्दलहरी (श्रीशङ्कराचार्य)
१८. महालक्ष्म्यष्टकम् (इन्द्र)
१९. श्रीसरस्वतीस्तोत्रम् (?)

(घ) विष्णुस्तोत्र—
२०. श्रीनारायणाष्टकम् (श्रीकूरेश स्वामी)
२१. श्रीकमलापत्यष्टकम् (श्रीब्रह्मानन्द स्वामी)
२२. परमेश्वरस्तुतिसारस्तोत्रम् (श्रीब्रह्मानन्द)
२३. मङ्गलगीतम् (श्रीजयदेव)
२४. श्रीदशावतारस्तोत्रम् (श्रीजयदेव)
२५. श्रीलक्ष्मीनृसिंहस्तोत्रम् (श्रीशङ्कराचार्य)
२६. श्रीरामरक्षास्तोत्रम् (श्रीबुधकौशिक ऋषि)

(ङ) रामस्तोत्र—
२७. श्रीरामाष्टकम् (श्रीब्रह्मानन्द स्वामी)
२८. श्रीसीतारामाष्टकम् (श्रीअच्युत यति)
२९. श्रीरामचन्द्रस्तुतिः (गोस्वामी श्रीतुलसीदास)
३०. श्रीराममङ्गलाशासनम् (श्रीवरवरमुनि)
३१. श्रीरामप्रेमाष्टकम् (श्रीयामुनाचार्य)
३२. श्रीरामचन्द्राष्टकम् (श्रीअमरदास)

(च) श्रीकृष्णस्तोत्र—
३३. गोविन्दाष्टकम् (श्रीब्रह्मानन्दं स्वामी)
३४. श्रीगोविन्दाष्टकम् (श्रीशङ्कराचार्य)

६३. द्वादशपञ्जरिकास्तोत्रम् (श्रीशङ्कराचार्य)

६४. गौरीशाष्टकम् (श्रीचिन्तामणि)

६५. सप्तश्लोकी गीता (श्रीमद्भगवद्गीता)

६६. चतुःश्लोकी भागवतम् (श्रीमद्भागवत २।९।३१-३७)

६७. श्रीमृत्युञ्जयस्तोत्रम् (श्रीपद्मपुराण)

उपर्युक्त स्तोत्रों के अतिरिक्त और भी अनेक स्तोत्र हैं लेकिन सभी का प्रस्तुतीकरण अत्यन्त कठिन है ।

शेषावतार अभिनवगुप्तपादाचार्य के स्तोत्र

शङ्कराचार्य के बाद १०वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उत्पन्न महायोगी, अद्वितीय विद्वान्, भैरवावतार अभिनवगुप्तपादाचार्य के द्वारा रचित शिव एवं शक्ति की स्तुति के रूप में कुल दश स्तोत्र प्राप्त होते हैं जिनका हिन्दी एवं अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत संस्करण में किया गया है । अतः इनके द्वारा रचित स्तोत्रों का यहाँ उल्लेख करना पिष्टपेषण मात्र होगा । इनके स्तोत्र भक्तिभाव से परिपूर्ण होते हुए भी दार्शनिक हैं । इनमें काश्मीर शैव दर्शन के अनेक पारिभाषिक शब्दों और सिद्धान्तों का समावेश है । इन स्तोत्रों में परमसत्ता से अभिन्न इन्द्रियग्राह्य संसार का वर्णन है। यही परमसत्ता ही अनुत्तर, परमार्थ, प्रपञ्चोत्तीर्ण और विश्वमूर्तिस्वरूप है । इन स्तोत्रों के अनुसार उस परमतत्त्व का साक्षात्कार ही मुक्ति का एकमात्र उपाय है। अनुत्तराष्टिका की यह पंक्ति—'संसारोऽस्ति न तत्त्वतः तनुभृतां बन्धस्य वार्तैव का' जयरथ द्वारा तन्त्रालोक पर अपनी टीका (३।९९) में उद्धृत की गयी है । इनमें वेदान्तियों के द्वारा प्रयुक्त होनेवाली कुछ उपमायें अक्षरशः उसी रूप में प्राप्त होती हैं, जैसे—'मिथ्यामोहकृदेष रज्जुभुजगच्छायापिशाचभ्रमो ।' लेकिन इसका आशय यह नहीं निकालना चाहिए कि संसार के विषय में त्रिक दर्शन का वेदान्त से कोई साम्य है । संसार के विषय में त्रिक दर्शन का आभासवाद और वेदान्तियों का विवर्तवाद एक दूसरे से सर्वथा भिन्न सिद्धान्त है ।

परमार्थद्वादशिका नामक स्तोत्र का दूसरा नाम 'अद्वयद्वादशिका' भी है क्योंकि इसके दूसरे श्लोक की यह पंक्ति—'यद्यतत्त्वपरिहारपूर्वकं तत्त्वमेसि तदतत्त्वमेव हि' रामाद्वयाचार्य ने चक्रपाणिनि के 'भावोपहार' पर अपनी टीका में उद्धृत करते हुए लिखा है—'अद्वयद्वादशिकायामपि ।'

क्रम और भैरव स्तोत्रों के अन्तिम श्लोक उनके रचनाकाल और अभिनवगुप्त के समय को दर्शाते हैं । भैरवस्तोत्र के प्रसङ्ग में प्राचीन काश्मीरी पण्डित परिवारों में आज भी विद्यमान एक परम्परा के अनुसार आचार्य

अभिनवगुप्त अपनी जीवन-लीला की समाप्ति के समय अर्थात् अपनी अन्तिम समाधि के लिए भैरवगुफा में प्रवेश करते समय इसी भैरवस्तोत्र का पाठ कर रहे थे ।

शिव के सहायक देवी-देवताओं का उल्लेख जो पुराणों में प्राप्त होता है वह शिव के द्वारा धारण किया गया पशुभाव है और वे सभी देवी-देवता स्वरूप से भिन्न होते हुए कर्म से अभिन्न होकर उन्हीं से सम्बन्धित हैं । यह विचार अभिनवगुप्त ने 'देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र' में अभिव्यक्त किया है । जैसे उनके दो द्वारपाल हैं—गणेश और बटुक । शरीर के नवद्वारों में दो द्वारों के रक्षक हैं और उनको क्रमशः प्राण और अपान कहा जाता है । इसी विचार को जयरथ ने अपनी तन्त्रालोक (१।६) की टीका में क्रमशः इस प्रकार लिखा है—'अस्य हि प्राणव्याप्तिरस्ति इत्येवं निर्दिशन्ती गुरवः' और 'वस्तुतो हि अपानव्याप्तिरस्यास्ति इत्येवं निर्देशः' । 'रहस्यपञ्चदशिका' में मुख्य रूप से परा की शिव अथवा परमशिव से अभिन्नरूप से अभिव्यक्ति है जो पुराणों में प्राप्त शिव और पार्वती सम्बन्धी धार्मिक मान्यताओं से प्रभावित है । परा ही लक्ष्मी[1] और सरस्वती[2] हैं । इस स्तोत्र में दार्शनिक विचार परा का पौराणिक एवं धार्मिक विचार पार्वती, लक्ष्मी एवं सरस्वती के साथ सामञ्जस्य स्थापित किया गया है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अद्यतन प्राप्त भक्तिभावपूर्णमात्र स्तोत्रों की अपेक्षा अभिनवगुप्तपादाचार्य के द्वारा रचित स्तोत्रों में भक्त के भावों के साथ-साथ काश्मीर शैवदर्शन के तत्त्वों एवं सिद्धान्तों का भी उल्लेख है । अपने उक्त स्तोत्रों में दार्शनिक विचारों पर पौराणिक एवं धार्मिक मान्यताओं का रंग चढ़ाकर उनको और अधिक चमत्कारी और हृदयाह्लादक बना दिया है । इस प्रकार का कार्य करनेवाला सम्पूर्ण संसार में अभिनवगुप्त के अतिरिक्त न तो कोई दूसरा विद्वान् पैदा हुआ है और न होगा ।

...✿...

---

1. R.P.4
2. Ibid-7

स्तोत्र-रचयिता अभिनवगुप्त का जीवन-वृत्त

दो अभिनवगुप्त की अवधारणा

भरत मुनि के द्वारा प्रणीत 'नाट्यशास्त्र' के टीकाकारों में आचार्य अभिनवगुप्तपाद का नाम अमर है । भास, कालिदास आदि प्राचीन ग्रन्थकारों एवं आचार्यों की अपेक्षा अभिनवगुप्त का परिचय प्राप्त करना थोड़ा सरल है क्योंकि उन्होंने अपने ग्रन्थों में प्रायः अपने पूर्वजों का तथा ग्रन्थों के रचनाकालादि का वर्णन किया है । उनके द्वारा कृत उल्लेखों के आधार पर उनके समय का निर्धारण और कुछ साधारण परिचय आसानी से प्राप्त हो जाता है । पुनरपि उनके विषय में एक प्रश्न उत्पन्न हो गया है और उस प्रश्न को उत्पन्न करने का हेतु है 'माधव' द्वारा रचित 'शङ्करदिग्विजय' ग्रन्थ । इस ग्रन्थ में वेदान्तसूत्रों पर शाक्तदृष्टि से भाष्य करनेवाले अभिनवगुप्त नामक एक शाक्त मतानुयायी भाष्यकार का उल्लेख किया गया है । ये शाक्त मतावलम्बी भाष्यकार कामरूप (असम) के रहने वाले हैं और अपने समय के ख्यातिलब्ध विद्वान् तथा दार्शनिक माने जाते हैं । 'शङ्करदिग्विजय' ग्रन्थ में 'माधव' ने यह वर्णन किया है कि शाक्त अभिनवगुप्त के साथ शङ्कराचार्य ने शास्त्रार्थ करके उनको पराजित किया था । 'शङ्करदिग्विजय' का उक्त घटना से सम्बन्धित श्लोक इस प्रकार है—

तदनन्तरमेष कामरूपानधिगत्याभिनवोपशब्दगुप्तम् ।
अजयत् किल शाक्तभाष्यकारं स भग्नो मनसेदमालुलोचे ।

(शङ्करदिग्विजय १५-१५८)

स च भग्नोऽभिनवगुप्ताचार्यो मनसा इदं वक्ष्यमाणं विचारयामास ।

(शङ्करदिग्विजय टीका १५-१५८)

'माधव' द्वारा रचित 'शङ्करदिग्विजय' ग्रन्थ तथा इस पर लिखी गयी टीका, दोनों से यह स्पष्टरूप से ज्ञात होता है कि आचार्य शङ्कर ने असम में पहुँचकर शाक्त अभिनवगुप्त के साथ शास्त्रार्थ करके उनको परास्त किया । उस शास्त्रार्थ में पराभव को प्राप्त होने के बाद उस अभिनवगुप्त ने अपने हृदय में इस प्रकार विचार किया—

'शङ्करदिग्विजय' नामक ग्रन्थ में आगे शाक्त अभिनवगुप्त के हृदयस्थ विचारों का विस्तृत वर्णन किया गया है । यहाँ तो हमारा प्रयोजन मात्र इतने से ही है कि शङ्करदिग्विजय के अनुसार अभिनवगुप्त के साथ आचार्य शङ्कर का शास्त्रार्थ हुआ था जिसमें अभिनवगुप्त पराजित होगये थे । यहाँ प्रश्न यह है कि क्या यही अभिनवगुप्त भरतमुनि के नाट्यशास्त्र पर 'अभिनवभारती' नामक टीका लिखनेवाले अभिनवगुप्त हैं? या उक्त दोनों अलग-अलग व्यक्ति हैं । इस प्रश्न की समीक्षा इसलिए आवश्यक है क्योंकि बिना समीक्षा के अभिनवगुप्त का सटीक परिचय नहीं प्राप्त किया जासकता । अत: इस प्रसङ्ग में थोड़ा विश्लेषण आवश्यक है ।

स्वयं द्वारा सम्पादित अपने 'कैटलागस कैटलागरम' के प्रकाशित सूचीपत्र में 'शङ्करदिग्विजय' को सम्पादक डा. ऑफ्रेट ने 'सूक्ष्मशङ्करविजय' नाम से निर्दिष्ट किया है । इसके साथ ही उन्होंने उपर्युक्त श्लोकों के आधार पर अभिनवगुप्त के विषय में भी कुछ पंक्तियाँ लिखी है । यहाँ तक के वर्णन में तो कोई दुविधा नहीं थी । हम इन अभिनवगुप्त को 'अभिनवभारती' और 'लोचन' टीका के प्रणेता कश्मीर के अभिनवगुप्त से अलग मान सकते थे । लेकिन समस्या तो तब उत्पन्न होती है जब डा. ऑफ्रेट महोदय नाट्यशास्त्र के प्रसिद्ध टीकाकार विश्वविख्यात अभिनवगुप्त के ग्रन्थों में उपरिवर्णित श्लोकों में उल्लिखित शाक्तभाष्य को भी सम्मिलित कर देते हैं । इससे यह स्पष्ट होता है कि डॉ. ऑफ्रेट की दृष्टि में शाक्त भाष्यकार अभिनवगुप्त और लोचन टीकाकार अभिनवगुप्त दोनों एक ही व्यक्ति हैं । परन्तु यह बात युक्तियुक्त नहीं है । यह सम्भव प्रतीत होता है कि शङ्करदिग्विजय के कर्त्ता आचार्य माधव के मन में यह बात रही हो । आचार्य अभिनवगुप्त अपने समय के अद्वितीय विद्वान् तथा महान् दार्शनिक माने जाते थे । इस प्रकार की बहुमुखी प्रतिभा के धनी और अद्वितीय विद्वान् से शास्त्रार्थ और आचार्य शङ्कर के द्वारा उनकी पराजय के बिना शङ्कराचार्य की दिग्विजय पताका अधूरी रहती । इसलिए यह सम्भव है कि माधवाचार्य ने भी इसी लोचनकार अभिनवगुप्त की पराजय का वर्णन उक्त श्लोकों में किया हो । किन्तु इस प्रकार का कथन निराधार एवं असत्य है । इस कथन की असत्यता में दो कारण है । इसमें पहला तथ्य तो यह है कि प्रसिद्ध 'लोचन' टीकाकार अभिनवगुप्त शैवमतावलम्बी थे शाक्तमतावलम्बी नहीं। दूसरा तथ्य यह है कि वे कश्मीर के निवासी थे और शङ्करदिग्विजय में उल्लिखित अभिनवगुप्त कामरूप (असम) के निवासी थे । अभिनवभारतीकार और काश्मीर निवासी अभिनवगुप्त असम जा सकते हैं और शैव तथा शाक्त का अन्तर भी दृष्टिपटल से हटाया जा सकता है किन्तु सबसे बड़ी समस्या शङ्कराचार्य और अद्वितीय एवं कश्मीर के प्रसिद्ध विद्वान् अभिनवगुप्त के काल में है, जो लगभग दो सौ पचास वर्षों का अन्तराल है, उस अन्तराल को तो

किसी भी प्रकार से दूर नहीं किया जा सकता है । शङ्कराचार्य का जन्म समय ७८८ ईस्वी तथा स्वर्गारोहण का समय ८२० ईस्वी स्वीकार किया जाता है । मात्र ३२ वर्ष की अत्यल्प आयु में ही उनका शरीरावसान हो गया था । किन्तु अभिनवगुप्त (१०५०-६० ईस्वी)[१] का समय उनके लगभग २५० वर्ष बाद आता है । आचार्य अभिनवगुप्त के द्वारा लिखित 'क्रमस्तोत्र', 'भैरवस्तोत्र' तथा 'बृहतीविमर्शिनी' आदि ग्रन्थों से उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर उनका समय ११वीं शताब्दी का उत्तरार्ध सिद्ध होता है तथा शङ्कराचार्य का मृत्युकाल ९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पड़ता है । इस प्रकार दोनों के समय में जो लगभग २५० वर्षों का अन्तरालस्वरूप व्यवधान है, उससे यह स्वतः प्रमाणित होता है कि उपर्युक्त दोनों अभिनवगुप्त एक व्यक्ति नहीं होसकते । वस्तुतः यह प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त नामक किसी दूसरे व्यक्ति का कोई अस्तित्व ही नहीं था । केवल माधवाचार्य ने 'शङ्करदिग्विजय' में अपने चरित्र नायक शङ्कराचार्य के द्वारा प्रकाण्ड विद्वान् अभिनवगुप्तपादाचार्य की पराजय प्रदर्शित करने तथा उस निमित्त से अपने चरित्र नायक के उत्कर्षवर्धन के लिए समय आदि को सोचे-समझे बिना ही अभिनवगुप्तपाद के पराजय की यह तथाकथित कहानी अपने ग्रन्थ में वर्णित कर दी । उपर्युक्त सम्पूर्ण वर्णन ही वास्तविकता से परे तथा कल्पनाप्रसूत मात्र प्रतीत होता है । यदि ग्रन्थकार की महत्ता की रक्षा के लिए कुछ क्षण के लिए यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि अभिनवगुप्त नाम के कोई शाक्त भाष्यकार भी थे और उनको शिवावतार भगवान् शङ्कराचार्य ने शास्त्रार्थ में पराजित किया था तो यह स्वतः सिद्ध है कि वह अभिनवगुप्त प्रसिद्ध काश्मीरी तथा काश्मीर शैवदर्शन के श्रेष्ठतम आचार्य अभिनवगुप्त से अवश्य ही भिन्न व्यक्ति रहे होंगे । इस शास्त्रार्थ के विषय में मेरा यह विचार है कि भैरवावतार एवं बहुमुखी प्रतिभा के धनी और अतीन्द्रिय ज्ञान से सम्पन्न अभिनवगुप्तपादाचार्य कभी शङ्कराचार्य से पराजित ही नहीं हो सकते थे । अभिनवगुप्त भी आचार्य शङ्कर के समान बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे । यह बात उनके द्वारा काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' और 'नाट्यशास्त्र' पर 'अभिनवभारती' नामक लिखी गयी टीकाओं से ज्ञात होती है। आचार्य शङ्कर का एक भी ग्रन्थ वेदों, उपनिषदों तथा इन्हीं से सम्बद्ध विषयों को छोड़कर किसी भी अन्य विषय से सम्बन्धित नहीं है और तो और उनके द्वारा लिखित काव्य 'सौन्दर्यलहरी' तो आगम शास्त्र के मतों एवं सिद्धान्तों का ही उपकारक ग्रन्थ बन गया है । इसलिए डॉ. ऑफ्रेट ने अभिनवभारतीकार कश्मीरी अभिनवगुप्त के द्वारा रचित ग्रन्थों की सूची में शाक्त भाष्य को भी सम्मिलित कर लिया है वह नितान्त अतार्किक एवं निराधार है ।

---

1. Prof. K.C. Panday 'Abhinavagupta'.

स्तोत्रप्रणेता अभिनवगुप्त के नाम का रहस्याख्यान

(क) प्रत्यभिज्ञादर्शन के सर्वश्रेष्ठ आचार्य और अभिनवभारती तथा लोचन टीकाओं के प्रणेता अभिनवगुप्त अपने जिस अभिनवगुप्त नाम से प्रसिद्ध है सम्भवतः यह उनके जन्म का वास्तविक नाम नहीं है । उनके जन्म का नाम कुछ दूसरा ही था । यह नाम उनके गुरु के द्वारा उनके गुणों के आधार पर रखा गया है । ऐसा उनके पूर्ववर्ती विद्वान् स्वीकार करते है और अभिनवगुप्त के वर्णनों से भी यह बात प्रमाणित हो जाती है । अभिनवगुप्त का सम्पूर्ण नाम अभिनवगुप्तपाद है और उसके साथ सम्मान सूचक आचार्य शब्द भी लगाया जाता है इसी कारण उनको सम्मान के साथ अभिनवगुप्तपादाचार्य कहा जाता है । काव्यप्रकाश के रचयिता आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में भरतमुनि के रससूत्र के विवेचन के प्रसङ्ग में जहाँ एक ओर भट्टलोल्लट, आचार्य शङ्कुक और भट्टनायकाचार्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है वहीं दूसरी ओर उसके साथ ही 'इति अभिनवगुप्तपादाचार्याः' वाक्य लिखकर अभिनवगुप्त के सिद्धान्त का भी विशद् वर्णन किया है । इस स्थान पर काव्यप्रकाश की 'बालबोधिनी' टीका में आचार्य वामन ने अभिनवगुप्तपाद नाम का रहस्य प्रतिपादित करते हुये इस प्रकार लिखा है—

'इदमत्र रहस्यं, पुरा किल क्वचिद्वलभौ पठतां बहूनां ब्राह्मणबालकानाम-ध्ययनशालासीत् । तत्र पठन् कश्चिद् गौडबालोऽति सौबुद्ध्यान्तमुखरत्वाच्च निखिलानां बालानां भयप्रदत्वेन बालवलभीभुजङ्ग इति गुरुणा व्यपदिष्टः । स चाचार्यतामुपगतः इति सकलरहस्याभिज्ञः श्री वाग्देवतावतारो (मम्मटः) गूढं तन्नाम 'अभिनवगोपानसीगुप्तपाद' यदि वैदग्ध्यमुखेनाभिव्यनक्ति ।'

उपर्युक्त पंक्तियों के आधार पर अभिनवगुप्तपाद इस नाम में 'अभिनव' पद नवीन अर्थात् बाल्य अर्थ का और 'गुप्तपाद' सर्प अर्थ का व्यञ्जक है । सर्प के पैर नहीं होते वे गुप्त रहते हैं । वे अपने वक्षस्थल की हड्डियों के बल से ही आगे चलता है इसलिऐ उसको 'गुप्तपाद' कहते हैं । सर्प को देखकर जैसे लोग भयभीत हो जाते हैं उसी प्रकार अपने बाल्यावस्था में अभिनवगुप्त बहुत ही उद्दण्ड प्रकृति के थे तथा अपने सहपाठियों को हमेशा डराते रहते थे । इसी कारण उनके गुरु ने अन्य विद्यार्थियों के लिए सर्प के समान भयोत्पादक होने के कारण उनका नाम अभिनवगुप्तपाद रख दिया था । यही वामनाचार्य की टीका में अभिनवगुप्तपाद नाम का गोपनीय वर्णन है ।

आचार्य वामन के उक्त कथानक में किस सीमा तक वास्तविकता है इसका आकलन नहीं किया जा सकता । परन्तु एक बात तो उसमें अवश्य ही सन्देह उत्पन्न करती है कि इन पंक्तियों में उन्होंने अभिनवगुप्तपाद को 'गौडबाल' कहा

है । अभिनवगुप्त तो कश्मीर प्रदेश में उत्पन्न हुये थे उनके लिए 'गौडबाल' शब्द का प्रयोग कदाचित् उचित प्रतीत नहीं होता है । परन्तु इस कथानक का महत्त्वपूर्ण अंश इतना ही है कि अभिनवगुप्तपाद यह नाम अभिनवगुप्त का अपने जन्म का नाम नहीं था अपितु गुरुप्रदत्त नाम था । अभिनवगुप्त के द्वारा रचित 'तन्त्रालोक' नामक ग्रन्थ के इस वाक्य से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है—
'अभिनवगुप्तस्य कृतिः सेयं यस्योदिता गुरुभिराख्या ।'—तन्त्रालोक (१-१५०)

अर्थात् यह उस अभिनवगुप्तपादाचार्य का ग्रन्थ है जिसका यह अभिनव-गुप्तपाद नाम गुरुओं ने रखा है । जब तन्त्रालोककार अभिनवगुप्त स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि उनका अभिनवगुप्तपाद यह नाम गुरुओं ने रखा है तो वामनाचार्य ने जो इसका कारण बतलाया है वह भी उचित ही होगा अपने शैशवावस्था में अभिनवगुप्त की उद्दण्डता इत्यादि को देखकर ही गुरुजनों ने उनको इस नाम से विभूषित किया होगा और धन्य हैं अभिनवगुप्तपादाचार्य जिन्होंने गुरुओं के द्वारा दिये हुये इस नाम को सहर्ष स्वीकार कर लिया ।

(ख) भारत के दक्षिण प्रांत में भरतनाट्यम् का बहुत अधिक प्रचार-प्रसार है । वहाँ के नर्तक भरत के द्वारा रचित नाट्यशास्त्र में दिये हुये नियमों का कठोरता के साथ पालन करते हुये ही नृत्य करते हैं । भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के चतुर्थ अध्याय में नृत्य के विवेचन के प्रसङ्ग में जिस प्रकार के 'अङ्गहारों' और 'करणों' आदि का विवेचन किया है उन सभी का वे दक्षिण भारतीय नर्तक लोग अक्षरशः पालन करते हैं । भरतमुनि के द्वारा उनके नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित १०८ करणों के प्रकारों के चित्र वहाँ के मन्दिरों में प्रस्तर की मूर्तियों के रूप में चित्रित किये गये हैं । इन 'भरतनाट्यम्' के अभिनेता नर्तकों के द्वारा अभिनवगुप्त को शेषनाग का अवतार स्वीकार किया जाता है । यह अभिनवगुप्तपाद नाम उनके शेषावतार होने का प्रतीक है । इस प्रकार की दक्षिण भारतीयों की विचारधारा है अर्थात् वे शेषनाग के अवतार थे इसीलिए उनका नाम अभिनवगुप्तपाद रखा गया होगा ।

अभिनवगुप्त की वंश-परम्परा

अभिनवगुप्तपादाचार्य ने स्वरचित ग्रन्थों में अपने पूर्वजों का वर्णन अत्यन्त विस्तार के साथ किया है । उन ग्रन्थों पर दृष्टिपात करने पर यह ज्ञात हो जाता है कि यद्यपि अभिनवगुप्त कश्मीर के निवासी थे परन्तु उनके पूर्वज मूलतः कश्मीर के रहनेवाले नहीं थे । वे वर्तमान उत्तर प्रदेश के कन्नौज नगर (कानपुर और आस-पास का क्षेत्र) जो कि एक समय में एक प्रमुख राज्य था, के रहने वाले थे । अभिनवगुप्त के पूर्वज अत्रिगुप्त अभिनवगुप्त के जन्म से सम्भवतः २०० वर्ष पूर्व आठवीं शताब्दी में कन्नौज से जाकर कश्मीर में रहने

लगे थे। अत्रिगुप्त का कश्मीर में जाना एक विशिष्ट घटना है और इसमें कारण यह है कि आठवीं शताब्दी में यशोवर्मा नामक राजा का कन्नौज पर अधिकार था जिनका समय ७३०-४० ईस्वी के आस-पास है तथा उसी समय कश्मीर प्रदेश पर राजा ललितादित्य (७२५-७६१ ईस्वी) शासन करते थे। यशोवर्मा के साथ हुए युद्ध में राजा ललितादित्य ने उनको पराजित कर दिया। इस युद्ध का उल्लेख कल्हण द्वारा रचित कश्मीर के ऐतिहासिक ग्रन्थ 'राजतरङ्गिणी' में पाया जाता है। अत्रिगुप्त के अद्वितीय पाण्डित्य और ब्राह्मणोचित सम्पूर्ण गुणों के विषय में राजा ललितादित्य पहले ही जान चुके थे। उस समय के राजागण गुणग्राही, विद्वताप्रिय तथा विद्वानों का सम्मान करनेवाले होते थे। वे लोग धनसम्पत्ति के संग्रह की ओर कम ध्यान देते थे। वे विद्वानों को एकत्र करने में प्रसन्नता और आत्मगौरव समझते थे। यही उक्ति कश्मीर नरेश ललितादित्य के विषय में भी चरितार्थ होती थी। जब वह अत्रिगुप्त की अति विद्वता के समाचार से अवगत हुए तो ललितादित्य ने स्वयं अत्रिगुप्त से कश्मीर में आने के लिए प्रार्थना किया और आदरपूर्वक उनको कश्मीर में बसाया तथा उनके जीविकोपार्जन के लिए उन्हें एक विशाल भूसम्पत्ति भी दान करदी। आचार्य अभिनवगुप्त ने इस घटना का वर्णन अत्यन्त विस्तार के साथ किया है। भारतीय क्षेत्र में गङ्गा तथा यमुना नदियों के बीच का क्षेत्र 'अन्तर्वेदी' के नाम से जाना जाता है। कन्नौज राज्य भी इसी अन्तर्वेदी की सीमा के अन्दर था। इसी क्षेत्र में कहीं पर अत्रिगुप्त की मातृभूमि थी। इसी अन्तर्वेदी क्षेत्र से जाकर अत्रिगुप्त कश्मीर की धरती पर बस गये थे। इस घटना का उल्लेख आचार्य अभिनवगुप्त ने 'परात्रींशिका विवरण' में इस प्रकार किया है—

अन्तर्वेद्यामत्रिगुप्ताभिधानः
प्राप्योत्पत्तिं प्राविशत् प्राग्रजन्मा।
श्रीकाश्मीरांश्चन्द्रचूडावतार-निः
संख्याकैः पावितोपान्तभागान्॥

—(परात्रिंशिका विवरण २८०)

उपर्युक्त श्लोक में अत्रिगुप्त के अन्तर्वेदी भूभाग में पैदा होकर कश्मीर में जाकर निवास करने की घटना का सामान्य रूप से कथन किया गया है। परन्तु उनके कश्मीर जाने का कारण और उनके सम्मान-सूचक कथा का उक्त श्लोक में कोई भी वर्णन नहीं है लेकिन अभिनवगुप्त ने अपने 'तन्त्रालोक' (तन्त्रागम के विश्वकोष) नामक ग्रन्थ में अत्रिगुप्त द्वारा कन्नौज राज्य छोड़कर कश्मीर में जाकर निवास करने की सम्पूर्ण कथा को इस प्रकार लिखा है—

निःशेषशास्त्रसदनं किल मध्यदेशः,
तस्मिन्नजायत् गुणाभ्यधिको द्विजन्मा।
कोऽप्यत्रिगुप्त इति नामनिरुक्तगोत्रः,
शास्त्राब्धिचर्वणकलोद्यगस्त्यगोत्रः॥
तमथ ललितादित्यो राजा स्वकं पुरमानयत्।
प्रणयरभसात् काश्मीराख्यं हिमालयमूर्धगम्॥
(तन्त्रालोक अ० २७)

उपर्युक्त श्लोक का अर्थ है कि (मध्यदेश) अन्तर्वेदी भाग सम्पूर्ण शास्त्रों में पारङ्गत विद्वज्जनों का सदन है। इसी क्षेत्र में सम्पूर्ण शास्त्ररूपी सागर को पी जानेवाले ऋषि अगस्त्य गोत्र में अत्रिगुप्त नामक गुणशाली अद्वितीय विद्वान् पैदा हुए और कश्मीर प्रदेश का राजा ललितादित्य उनको आदर और प्रेम के साथ हिमालय पर्वत के शिखर पर स्थित अपने कश्मीर राज्य में ले गया। अत्रिगुप्त को ससम्मान कश्मीर लेजाने के पश्चात् कश्मीरनरेश ने उनके लिए जो व्यवस्था की, उसका वर्णन अभिनवगुप्तपादाचार्य ने अपने ग्रन्थ तन्त्रालोक में इस प्रकार किया है—

तस्मिन् कुबेरपुरचारु सितांशुमौलि-
साम्मुख्यदर्शनविरूढपवित्रभागे।
वैतस्तरोधसि निवासममुष्य चक्रे,
राजा द्विजस्य परिकल्पितभूमिसम्पत्॥

अर्थात् विद्वान् अत्रिगुप्त को कश्मीर लेजाकर ललितादित्य ने वहाँ चन्द्रमौलि भगवान् शङ्कर के मन्दिर के सामने होने से जो और भी अधिक पवित्र हो जाता था; इस प्रकार की (वितस्ता) नदी के तटपर इनके लिए एक भव्य भवन का निर्माण कराया और उन्हें एक विशाल जागीर देकर कश्मीर का निवासी बना दिया। इस प्रकार अपने लगभग २०० वर्ष पहले के पूर्वज अत्रिगुप्त के कश्मीर गमन की कथा का अभिनवगुप्त ने अतिविस्तृत वर्णन किया है। उसके पश्चात् मध्य में बहुत समय का विवरण छोड़कर अपने पितामह वराहगुप्त से पुनः इतिहास का श्रीगणेश किया और आगे के श्लोकों में वे अपने बाबा वराहगुप्त, पिता नृसिंहगुप्त, चाचा तथा भाइयों आदि का वर्णन करते हैं। अभिनवगुप्त अपने बाबा का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

तस्यान्वये महति कोऽपि वरागुप्त-
नामा बभूव भगवान् स्वयमन्तकाले।
गीर्वाणसिन्धुलहरीकलिताग्रमूर्धा-
यस्याकरोत् परमनुग्रहमाग्रहेण॥

अपने बाबा के वर्णन के पश्चात् वे अपने पिता का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

तस्यात्मजः चुखलुकेति जने प्रसिद्ध-
श्चन्द्रावदातधिषणो नरसिंहगुप्तः ।
यं सर्वशास्त्ररसमज्जनशुभ्रचित्तं
माहेश्वरी परमलङ्कुरुते स्म भक्तिः ॥

अर्थात् अत्रिगुप्त के कुल में वराहगुप्त उत्पन्न हुए जो स्तोत्रों के प्रणेता अभिनवगुप्त के बाबा थे कालान्तर में नृसिंहगुप्त जो वराहगुप्त के पुत्र थे, पैदा हुए । लोग उनको 'चुखलुक' के नाम से पुकारते थे । इसी नाम से वे प्रसिद्ध थे । अभिनवगुप्त के चाचा का नाम वामनगुप्त था । नाट्यशास्त्र की टीका अभिनवभारती में अभिनवगुप्त ने वामनगुप्त के द्वारा रचित एक श्लोक विशेष रूप से उद्धृत किया है जो उनके एक कुशल कवि होने का प्रमाण है । उनके नाम के साथ यह श्लोक इस प्रकार है—

तत्र हास्याभासो यथास्मत्पितृव्यस्य वामनगुप्तस्यः—

लोकोत्तराणि चरितानि न लोक एष
सम्मन्यते यदि किमगवदाम नाम ।
यत्वत्र हासमुखरस्तत्वममुष्य तेन
पार्श्वोपपीडमिह को न विजाहसीति ॥

उपर्युक्त श्लोक में वामनगुप्त को अभिनवगुप्त ने अपना चाचा स्वीकार किया है । एक अन्य श्लोक में वे अपने दूसरे सम्बन्धियों और अपने पाँच चचेरे भाइयों का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—

अन्ये पितृव्यतनयाः शिवभक्तिशुभ्राः
क्षेमोत्पलाभिनवचक्रपद्मगुप्ताः ।
ते सम्पदं तृणमसंत शम्भुसेवा-
सम्पूरितं स्वहृदयं हृदि भावयन्तः ॥

अर्थात् क्षेमगुप्त, उत्पलगुप्त, अभिनवगुप्त, चक्रकगुप्त तथा पद्मगुप्त—ये पाँच उनके चचेरे भाइयों के नाम हैं जो भगवान् शङ्कर की आराधना के सम्मुख धन सम्पत्ति आदि वैभव को तिनके के समान अत्यन्त तुच्छ समझते थे ।

श्रीमधुसूदन कौल की भ्रान्त धारणा

आचार्य अभिनवगुप्त के कथनों के आधार पर ही उनके पितामह, पिता, पितृव्य तथा भाइयों आदि अन्य सम्बन्धियों का जो ऊपर वर्णन किया गया है उसमें कश्मीर शोध विभाग के श्रीमधुसूदन कौल महोदय ने एक सन्देह पैदा

कर दिया है । उन्होंने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' की भूमिका के पृष्ठ सात पर इस प्रकार लिखा है—

'अभिनवगुप्त ने प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का अध्ययन अपने पिता लक्ष्मण गुप्त से किया जो नृसिंहगुप्त के पुत्र और आचार्य उत्पलदेव के शिष्य थे ।'

कौल महोदय का उक्त कथन सर्वथा असङ्गत एवं निराधार है । लक्ष्मणगुप्त अभिनवगुप्त के गुरु थे न कि पिता । लक्ष्मणगुप्त ने अभिनवगुप्त को प्रत्यभिज्ञाशास्त्र पढ़ाया था । इसीलिए 'मालिनीविजयवार्तिक' में प्रत्यभिज्ञाशास्त्र की शिक्षा देनेवाले लक्ष्मणगुप्त को अभिनवगुप्त ने अपने गुरु के रूप में स्वीकार किया है न कि अपने पिता के रूप में । गुरु शब्द शिक्षक का वाचक है, पिता का नहीं तथा अभिनवगुप्त लक्ष्मणगुप्त के पुत्र भी नहीं हैं । लक्ष्मणगुप्त को गुरु के रूप में स्मरण से सम्बन्धित वह श्लोक अभिनवगुप्त के द्वारा इस प्रकार लिखा गया है—

तद्दृष्टिसंसृतिच्छेदि-प्रत्यभिज्ञोपदेशिनः ।
श्रीमल्लक्ष्मणगुप्तस्य गुरोर्विजयते वचः ॥

—मालिनीविजयवार्तिक २

इस प्रकार कौल जी का उपर्युक्त सम्पूर्ण कथन ही अज्ञानतापूर्ण और भ्रामक है ।

अभिनवगुप्तपादाचार्य का जीवन-वृत्तान्त

अभिनवगुप्त के परिवार से सम्बन्धित जो उपर्युक्त वर्णन किया गया है उस पर दृष्टिपात करने पर यह पता चलता है कि अभिनवगुप्त के पिता एक महान् विद्वान् तथा भगवान् शिव के परमाराधक थे । इनकी माता भी परम धार्मिक महिला थी । अभिनवगुप्त अपनी माता एवं पिता के 'योगिनीभू' सन्तान थे । अतः एक 'योगिनीभू' पुत्र के जो लक्षण होते हैं वे सभी लक्षण उनमें विद्यमान थे । आचार्य अभिनवगुप्त ने 'योगिनीभू' पुत्र में पाये जानेवाले गुणों का वर्णन 'तन्त्रालोक' में इस प्रकार किया है—

रुद्रशक्तिसमावेशस्तत्र नित्यं प्रतिष्ठितः ।
सति तस्मिंश्च चिन्हानि तस्यैतानि विलक्षयेत् ॥
तत्रैतत् प्रथमं चिह्नं रुद्रे भक्तिः सुनिश्चला ।
द्वितीयं मन्त्रसिद्धिः स्यात् सद्यः प्रत्ययकारिका ॥
सर्वतत्त्वशिवत्वं च तृतीयं लक्षणं स्मृतम् ।
प्रारब्धकार्यनिष्पत्तिश्चिन्हमाहुश्चतुर्थकम् ॥

कवित्वं पञ्चमं ज्ञेयं सालङ्कारं मनोहरम्।
सर्वशास्त्रार्थवेत्तृत्वमकस्माच्चास्य जायते॥
—तन्त्रालोक टीका ८।१३७

उपर्युक्त सम्पूर्ण लक्षण अभिनवगुप्त में थे जिनका उल्लेख आचार्य जयरथ ने 'तन्त्रालोक' की अपनी टीका में इस प्रकार किया है—

'समस्तं चेदं चिह्नजातमस्मिन्नेव
ग्रन्थकारे प्रादुरभूदिति प्रसिद्धिः।'

इस प्रकार के अत्यन्त पवित्र एवं उत्कृष्ट वातावरण में पलने और रहने तथा इतने उत्कृष्ट चरित्र के मानव होने पर भी उनका जीवन कष्टों से परिपूर्ण था। उनके जीवन में कहीं भी मिठास नहीं थी। आद्योपान्त उनका जीवन शुष्क और नीरस था। बचपन में ही उन पर से उनके माता-पिता की स्निग्ध मधुर छत्रछाया का उठ जाना ही उनके जीवन की शुष्कता और नीरसता का कारण थी। जीवन का माधुर्य और सरसता केवल दो ही स्थलों पर प्राप्त हो सकती है, एक तो माता के वात्सल्य, प्रेमयुक्त गोद में और दूसरी पत्नी के विलासपूर्ण आलिङ्गन पाश में; परन्तु विधि की विडम्बना के आगे किसी का वश नहीं चलता और परिणामस्वरूप अभिनवगुप्त को उक्त दोनों सुखों से वञ्चित होना पड़ा। वे कोई भी सुख नहीं प्राप्त कर सके। माँ की मधुरता से परिपूर्ण गोद उनको मिली तो अवश्य लेकिन बहुत ही अल्पकाल के लिए। उनकी माँ बचपन में ही उनको छोड़कर स्वर्ग चली गयीं—

'माता व्ययूयुजदमुं किल बाल्य एव।'

बचपन में ही माता के वात्सल्यपूर्ण आँचल से वञ्चित बालक के जीवन का पूर्णतः शुष्क तथा नीरस होजाना स्वाभाविक ही था। दार्शनिकता की ओर पग बढ़ाने के लिऐ जीवन की यही शुष्कता और नीरसता प्रेरणा देती है। अभिनवगुप्त की माता के वियोग ने भी उनको दर्शन के पथ पर चलने को विवश कर दिया। उन्होंने माता के वियोगरूपी घटना को भी एक दार्शनिक की तरह आगामी कल्याण के सूचक के रूप में स्वीकार किया और उसे अपने आगामी जीवन के संस्कार का उत्कर्षक स्वीकार कर उस पर मनस्तोष व्यक्त करते हुए तन्त्रालोक में लिखा है—

माता व्युयूजदमुं किल बाल्य एव
दैवो हि भावि परिकर्मणि संस्करोति।
—तन्त्रालोक ३७

परन्तु यह दार्शनिक सन्तोष तो केवल मन की सान्त्वना के लिए ही है। वह वात्सल्य प्रेम की माधुर्ययुक्त स्मृतियों को अल्प समय के लिए ही विस्मृत

कर सकता है सर्वदा के लिए कदापि नहीं । आचार्य अभिनवगुप्त भी अपनी माता को भूलने में समर्थ न हो सके । माता का वियोग रूपी दुःख उन्हें जीवन-पर्यन्त मर्मान्तक पीड़ा पहुँचाता रहा । इसी कारण उन्होंने तन्त्रालोक में अपनी माता के स्नेह को अत्यन्त करुण शब्दों में अभिव्यक्त करते हुए लिखा है—

माता परं बन्धुरिति प्रवादः
स्नेहोऽति गाढीकुरुते हि पाशान्।

—तन्त्रालोक ३७

उपर्युक्त श्लोक में अभिनवगुप्त के हृदय में स्थित मानो मातृ वियोगरूपी धारा निकल पड़ी है । माता के वियोग का दुःख अपने आप में ही महान् आपदा है परन्तु बालक अभिनवगुप्त के तो ऊपर माता के वियोग के साथ ही साथ पिता के वियोग का भी तुषारापात् हो गया । उनके पिता उनकी माता से अगाध लगाव रखते थे । उनके देहावसान के बाद नृसिंहगुप्त के लिए यह सम्पूर्ण संसार शून्य तथा जीर्ण-शीर्ण अरण्य हो गया—'जगज्जीर्णारण्यं भवति कलत्रेऽप्युपरते ।'

पुत्र का प्रेम भी उनको अधिक समय तक इस संसार में रहने के लिए विवश न कर सका । पत्नी के स्वर्गवास के थोड़े समय के बाद वे भी घर त्यागकर चले गये । यद्यपि इस समय अपने पिता की अवस्था का जो वर्णन अभिनवगुप्त ने किया है उसमें उन्हें युवावस्थारूपी सागर की चञ्चल तरङ्गों से पूर्ण कहा है । परन्तु अपने यौवन और पुत्रप्रेम दोनों को बलात् दबाकर वे विरक्तभाव से गृहत्याग कर चले गये । अभिनवगुप्त ने 'तन्त्रालोक' में इस घटना का वर्णन इस प्रकार किया है—

तारुण्यसागरतरङ्गभरानपोह्य
वैराग्यपोतमधिरुह्य दृढं हठेन।

—तन्त्रालोक ३७

माता के बाद जब पिताजी भी अभिनवगुप्त को छोड़कर चले गये तो उन्हें भी अपने जीवन के उद्देश्य में परिवर्तन करना पड़ा । अभिनवगुप्त जब तक माता-पिता की छत्रछाया में रहे तब तक उनका जीवन अत्यन्त सरल एवं आह्लादपूर्ण था । इसलिए वे साहित्य जैसे सरल और सुखद विषय के अध्ययन में लगे हुए थे । जब माता-पिता के वियोग से उत्पन्न असह्य पीड़ारूपी ताप ने उनके जीवन की सरस और वात्सल्य पूर्ण स्नेह के उद्गम-स्रोत को ही शुष्क बना दिया तब अभिनवगुप्त का मन भी सरस साहित्यिक अध्ययन से विमुख हो गया और उनके हृदय में सरस और कोमल भावनाओं के स्थान पर भगवान् शिव के प्रति अनन्य भक्ति ने अपना आधिपत्य ग्रहण कर लिया । अभिनवगुप्त ने सम्पूर्ण सांसारिक भावनाओं और विषयों का

परित्याग करते हुए भगवान् शिव की आराधना की और उनकी प्राप्ति के उपायभूत आगमशास्त्रों के अध्ययन में प्रवृत्त हो गये । अभिनवगुप्त ने अपनी जीवनरूप जलधारा के इस परिवर्तन का उल्लेख करते हुए लिखा है—

साहित्यसान्द्ररसभोगपरो महेश-
भक्त्या स्वयंग्रहणदुर्मदया गृहीतः ।
स तन्मयीभूय न लोकवर्तनी-
मजीगणत् कामपि केवलं पुनः ॥
तदीयसम्भोगविवृद्धये पुरा
करोति दास्यं गुरुवेश्मसु स्वयम् ॥

उपर्युक्त श्लोकों में अभिनवगुप्त ने यद्यपि अपने वैराग्य का वर्णन किया है लेकिन वे कवि ही तो हैं जिन्होंने अपने उस विरक्ति के वर्णन में भी शृङ्गार का माधुर्ययुक्त रसलेप लगा ही दिया है । शिवभक्तिरूपी नायिका अभिनवगुप्त को साहित्य के रसास्वादन में तल्लीन देखकर मदोन्मत्त हो उठी तथा उसने स्वयं उनके पास जाकर उनको आलिङ्गनपाश में जकड़ लिया । मदोन्मत्त नायिका के द्वारा स्वयं आलिङ्गन करने के बाद जो होना चाहिए था वही हुआ भी । अभिनवगुप्त भी सर्वस्व भुलाकर उसी नायिका की गोद में जा बैठे । उन्हें लोकलज्जा और सामाजिक व्यवहार आदि किसी भी वस्तु का कोई ज्ञान न रहा । शिवभक्तिरूपी नायिका के साथ अधिक से अधिक आनन्द को प्राप्त करने के लिए विख्यात गुरुजनों के घरों में दास्यभावरूपी तुच्छ कर्म को सहर्ष स्वीकार कर लिया अर्थात् गुरुओं की येन-केन-प्रकारेण सेवाकर और उनको प्रसन्न कर आगमशास्त्रों का गहन अध्ययन करने लगे । यह उनके वैराग्य का कितना स्वाभाविक और मधुर वर्णन है । वैराग्य का इससे सुन्दरतर वर्णन और क्या हो सकता है ? परन्तु वैराग्य की यह मधुरता केवल मनःकल्पना मात्र थी। वास्तविक रसानन्द तो उनके जीवन में था ही नहीं । भाग्य की विडम्बना बड़ी विचित्र है । तब अभिनवगुप्त ने भी इस मानसिक सम्भोगरूपी आनन्द से सन्तुष्टि प्राप्त करने का पूर्ण और सफल प्रयास किया । शिवभक्तिरूपिणी नायिका के बन्धन में बँध जाने के पश्चात् अब किसी अन्य नायिका में आसक्त होने के लिए उनके हृदय में कोई भी स्थान रिक्त भला कैसे रह सकता था ? इसलिए पाणिग्रहण का प्रश्न जीवनपर्यन्त उनके सामने न आसका । इस प्रकार माता-पिता के वियोग ने उनके जीवन की सम्पूर्ण मधुरता को नष्ट कर 'दारा-सुतप्रभृतिबन्धुकथामनाप्तम्' पत्नी-पुत्रादि सम्बन्धियों की चर्चा से रहित होकर पूर्ण नैष्ठिक ब्रह्मचारी के रूप में सम्पूर्ण जीवन अकेले व्यतीत करने के लिए बाध्य कर दिया । इस अत्यन्त दुःखपूर्ण परिस्थिति ने महान् परिवर्तन के साथ उनको दार्शनिक अभिनवगुप्त बना दिया ।

अभिनवगुप्त का समय

आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने अधोलिखित तीन ग्रन्थों में उनके लिखे जाने के समय का वर्णन किया है—

(क) 'क्रमस्तोत्र' अभिनवगुप्त की पहली रचना है । इसको उन्होंने मार्गशीर्ष कृष्ण ९ सप्तर्षि सम्वत्सर ६६ में लिखा था । जैसा कि उन्होंने स्वयं क्रमस्तोत्र के अन्तिम श्लोक में लिखा है—

षट्षष्टिनामके वर्षे नवम्यामसितेऽहनि ।
मयाभिनवगुप्तेन मार्गशीर्षे स्तुतः शिवः ॥

अर्थात् सम्वत् ६६ में मार्गशीर्ष कृष्ण नवमी को मैंने (अर्थात् अभिनवगुप्त ने) क्रमस्तोत्र के रूप में शिव की आराधना की है ।

(ख) इसी प्रकार 'भैरवस्तोत्र' के अन्तिम श्लोक में उन्होंने उसका समय इस प्रकार बतलाया है—

वसुरस पौषे कृष्णदशम्याम-
भिनवगुप्तः स्तवमिममकरोत् ॥

वसु आठ की तथा रस छः की संख्या का सूचक है । 'अङ्कानां वामतो गतिः' सिद्धान्त के अनुसार पूर्व में ६ और बाद में ८ लिखने पर संवत् ६८ निकलता है । उक्त संवत् ६८ के पौष महीने की कृष्ण दशमी को अभिनव-गुप्त ने इस स्तोत्र की रचना की थी—यही उक्त श्लोक का अर्थ है ।

(ग) इसी प्रकार 'बृहती विमर्शिनी' उनके द्वारा लिखा गया तीसरा ग्रन्थ है जिसमें उन्होंने उसके रचनाकाल का उल्लेख इस प्रकार किया है—

इति नवतितमेऽस्मिन् वत्सरान्त्ये युगांशे,
तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने ।
जगति विहितबोधां ईश्वरप्रत्यभिज्ञां,
व्यवृणुत परिपूर्णा प्रेरितः शम्भुपादैः ॥

अर्थात् अपने कौलमार्ग के गुरु शम्भुनाथ की प्रेरणा से संसार को ज्ञान प्रदान करनेवाली सम्पूर्ण 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' की अन्तिम युगांश अर्थात् कलिसम्वत् की तिथि अर्थात् ५, शशि १, जलधि ४ । अङ्कों की वामगति सिद्धान्त के अनुसार लिखने पर ४११५ संवत्सर बीत जाने के बाद ९० संवत्सर में मार्गशीर्ष के अन्त में मैंने अर्थात् अभिनवगुप्त ने पूरी 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' की यह व्याख्या की है ।

उपर्युक्त श्लोक में कलिसंवत्सर के ४११५ वर्ष व्यतीत होजाने के बाद ९० संवत्सर में इस ग्रन्थ की रचना का समय उल्लिखित है । इसमें जो ९० संवत्सर वर्णित है वह कश्मीर का इतिहास-प्रसिद्ध सप्तर्षि संवत्सर है और

परित्याग करते हुए भगवान् शिव की आराधना की और उनकी प्राप्ति के उपायभूत आगमशास्त्रों के अध्ययन में प्रवृत्त हो गये । अभिनवगुप्त ने अपनी जीवनरूप जलधारा के इस परिवर्तन का उल्लेख करते हुए लिखा है—

साहित्यसान्द्ररसभोगपरो महेश-
भक्त्या स्वयंग्रहणदुर्मदया गृहीतः ।
स तन्मयीभूय न लोकवर्तनी-
मजीगणत् कामपि केवलं पुनः ॥
तदीयसम्भोगविवृद्धये पुरा
करोति दास्यं गुरुवेश्मसु स्वयम् ॥

उपर्युक्त श्लोकों में अभिनवगुप्त ने यद्यपि अपने वैराग्य का वर्णन किया है लेकिन वे कवि ही तो हैं जिन्होंने अपने उस विरक्ति के वर्णन में भी शृङ्गार का माधुर्ययुक्त रसलेप लगा ही दिया है । शिवभक्तिरूपी नायिका अभिनवगुप्त को साहित्य के रसास्वादन में तल्लीन देखकर मदोन्मत्त हो उठी तथा उसने स्वयं उनके पास जाकर उनको आलिङ्गनपाश में जकड़ लिया । मदोन्मत्त नायिका के द्वारा स्वयं आलिङ्गन करने के बाद जो होना चाहिए था वही हुआ भी । अभिनवगुप्त भी सर्वस्व भुलाकर उसी नायिका की गोद में जा बैठे । उन्हें लोकलज्जा और सामाजिक व्यवहार आदि किसी भी वस्तु का कोई ज्ञान न रहा । शिवभक्तिरूपी नायिका के साथ अधिक से अधिक आनन्द को प्राप्त करने के लिए विख्यात गुरुजनों के घरों में दास्यभावरूपी तुच्छ कर्म को सहर्ष स्वीकार कर लिया अर्थात् गुरुओं की येन-केन-प्रकारेण सेवाकर और उनको प्रसन्न कर आगमशास्त्रों का गहन अध्ययन करने लगे । यह उनके वैराग्य का कितना स्वाभाविक और मधुर वर्णन है । वैराग्य का इससे सुन्दरतर वर्णन और क्या हो सकता है ? परन्तु वैराग्य की यह मधुरता केवल मनःकल्पना मात्र थी। वास्तविक रसानन्द तो उनके जीवन में था ही नहीं । भाग्य की विडम्बना बड़ी विचित्र है । तब अभिनवगुप्त ने भी इस मानसिक सम्भोगरूपी आनन्द से सन्तुष्टि प्राप्त करने का पूर्ण और सफल प्रयास किया । शिवभक्तिरूपिणी नायिका के बन्धन में बँध जाने के पश्चात् अब किसी अन्य नायिका में आसक्त होने के लिए उनके हृदय में कोई भी स्थान रिक्त भला कैसे रह सकता था? इसलिए पाणिग्रहण का प्रश्न जीवनपर्यन्त उनके सामने न आसका । इस प्रकार माता-पिता के वियोग ने उनके जीवन की सम्पूर्ण मधुरता को नष्ट कर 'दारा-सुतप्रभृतिबन्धुकथामनाप्तम्' पत्नी-पुत्रादि सम्बन्धियों की चर्चा से रहित होकर पूर्ण नैष्ठिक ब्रह्मचारी के रूप में सम्पूर्ण जीवन अकेले व्यतीत करने के लिए बाध्य कर दिया । इस अत्यन्त दुःखपूर्ण परिस्थिति ने महान् परिवर्तन के साथ उनको दार्शनिक अभिनवगुप्त बना दिया ।

अभिनवगुप्त का समय

आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने अधोलिखित तीन ग्रन्थों में उनके लिखे जाने के समय का वर्णन किया है—

(क) 'क्रमस्तोत्र' अभिनवगुप्त की पहली रचना है । इसको उन्होंने मार्गशीर्ष कृष्ण ९ सप्तर्षि सम्वत्सर ६६ में लिखा था । जैसा कि उन्होंने स्वयं क्रमस्तोत्र के अन्तिम श्लोक में लिखा है—

षट्षष्टिनामके वर्षे नवम्यामसितेऽहनि।
मयाभिनवगुप्तेन मार्गशीर्षे स्तुतः शिवः ॥

अर्थात् सम्वत् ६६ में मार्गशीर्ष कृष्ण नवमी को मैंने (अर्थात् अभिनवगुप्त ने) क्रमस्तोत्र के रूप में शिव की आराधना की है ।

(ख) इसी प्रकार 'भैरवस्तोत्र' के अन्तिम श्लोक में उन्होंने उसका समय इस प्रकार बतलाया है—

वसुरस पौषे कृष्णदशम्याम-
भिनवगुप्तः स्तवमिममकरोत् ॥

वसु आठ की तथा रस छः की संख्या का सूचक है । 'अङ्कानां वामतो गतिः' सिद्धान्त के अनुसार पूर्व में ६ और बाद में ८ लिखने पर संवत् ६८ निकलता है । उक्त संवत् ६८ के पौष महीने की कृष्ण दशमी को अभिनवगुप्त ने इस स्तोत्र की रचना की थी—यही उक्त श्लोक का अर्थ है ।

(ग) इसी प्रकार 'बृहती विमर्शिनी' उनके द्वारा लिखा गया तीसरा ग्रन्थ है जिसमें उन्होंने उसके रचनाकाल का उल्लेख इस प्रकार किया है—

इति नवतितमेऽस्मिन् वत्सरान्त्ये युगांशे,
तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने।
जगति विहितबोधां ईश्वरप्रत्यभिज्ञां,
व्यवृणुत परिपूर्णा प्रेरितः शम्भुपादैः ॥

अर्थात् अपने कौलमार्ग के गुरु शम्भुनाथ की प्रेरणा से संसार को ज्ञान प्रदान करनेवाली सम्पूर्ण 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' की अन्तिम युगांश अर्थात् कलिसम्वत् की तिथि अर्थात् ५, शशि १, जलधि ४ । अङ्कों की वामगति सिद्धान्त के अनुसार लिखने पर ४११५ संवत्सर बीत जाने के बाद ९० संवत्सर में मार्गशीर्ष के अन्त में मैंने अर्थात् अभिनवगुप्त ने पूरी 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' की यह व्याख्या की है ।

उपर्युक्त श्लोक में कलिसंवत्सर के ४११५ वर्ष व्यतीत होजाने के बाद ९० संवत्सर में इस ग्रन्थ की रचना का समय उल्लिखित है । इसमें जो ९० संवत्सर वर्णित है वह कश्मीर का इतिहास-प्रसिद्ध सप्तर्षि संवत्सर है और

४११५ कलि संवत्सर के साथ उसका सम्बन्ध भी प्रदर्शित किया गया है । संवत्सर ज्ञानियों का यह मत है कि सप्तर्षि संवत् का प्रारम्भ कलि संवत्सर के २५ वर्ष बाद हुआ है अर्थात् जिस समय कलि संवत्सर ४११५ चल रहा था उस समय उसके २५ वर्ष बाद प्रारम्भ होने वाले सप्तर्षि संवत्सर का ४०९० वाँ वर्ष (४११५-२५ = ४०९०) चल रहा था । इसी ४०९० सप्तर्षि संवत् को यहाँ अभिनवगुप्त ने 'नवतितमेऽस्मिन्' सम्वत् ९० लिखा है ।

कलि संवत्सर तथा सप्तर्षि संवत्सर के आधार पर अभिनवगुप्त द्वारा रचित 'बृहतीविमर्शिनी' के लिखे जाने का यह समय निश्चित हुआ । परन्तु इसका सम्बन्ध वर्तमान संवत्सर से जोड़ने हेतु कलिसंवत् को ध्यान में रखना होगा । विक्रम संवत् और कलिसंवत् में ३०४४ वर्षों का अन्तर है । कलि संवत् में से ३०४४ वर्ष कम कर देने पर विक्रम संवत् की गणना प्राप्त हो जायेगी । 'बृहतीविमर्शिनी' की रचना ४११५ कलि संवत् में हुई थी । इसमें ३०४४ वर्षों को घटाने पर १०७१ प्राप्त होता है जो विक्रम संवत् है । तात्पर्य यह निकला कि आचार्य अभिनवगुप्त ने 'बृहती विमर्शिनी' को १०७१ विक्रम संवत् में लिखा था । इस विक्रम संवत् को ईस्वी सन् में परिवर्तित करने के लिए ५७ वर्ष और कम करना होगा । ऐसा करने पर (१०७१-५७ = १०१४) वर्ष प्राप्त होता है जो इस्वी सन् है । अर्थात् १०१४ ईस्वी के आस-पास अभिनवगुप्त ने 'बृहतीविमर्शिनी' की रचना की थी ।

'बृहतीविमर्शिनी' के लिखे जाने का समय निश्चित हो जाने के बाद 'क्रमस्तोत्र' तथा 'भैरवस्तोत्र' का भी ईस्वी में समय निकालना आसान है । अभिनवगुप्त ने 'क्रमस्तोत्र' की रचना सप्तर्षि सम्वत् ६६ में अर्थात् 'बृहती-विमर्शिनी' की रचना के २४ वर्ष पूर्व तथा 'भैरवस्तोत्र' की रचना उसके २ वर्ष बाद अर्थात् 'बृहतीविमर्शिनी' से २२ वर्ष पूर्व की थी ।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर अभिनवगुप्त ने जिन तीन ग्रन्थों के लिखे जाने का समय दिया है उनमें सर्वप्रथम लिखे जाने वाले 'क्रमस्तोत्र' का समय ९९० ईस्वी आता है और सर्वान्त लिखी जानेवाली 'बृहतीविमर्शिनी' का समय १०१४ ई. निश्चित होता है । इस प्रकार उपर्युक्त दोनों कृतियों के मध्य में ४५ वर्ष का अन्तराल है । इसी भूमिका में आगे हम देखेंगे कि अभिनवगुप्त ने लघु-वृहद् कुल मिलाकर ४५ कृतियों का प्रणयन किया है । ४५ ग्रन्थों के इस विशालकाय साहित्य-संसार की रचना २४ वर्ष के अल्पकाल में कदापि सम्भव नहीं है । अतः क्रमस्तोत्र के पूर्व भी उन्होंने कुछ ग्रन्थों का निर्माण अवश्य किया होगा और 'बृहतीविमर्शिनी' के बाद भी ग्रन्थों के प्रणयन का कार्य अनवरत चलता रहा होगा । इस प्रकार अभिनवगुप्त की अवस्था क्रमस्तोत्र के लिखे जाने के समय ४०-५० वर्ष माने तो उनका समय

९५०-९६० ई. निश्चित होता है तथा बृहतीविमर्शिनी के बाद १०-२० वर्ष बाद तक उनका जीवन समय १०२५-१०३५ ई. तक स्वीकार कर लेने पर उनकी आयु ७५-८५ वर्ष की निश्चित होती है। इस ८५ वर्ष के जीवनकाल में लगभग ४५ वर्ष का समय उनके साहित्यिक रचना का काल स्वीकार किया जा सकता है। इन चालीस वर्षों में उन्होंने लगभग ४५ ग्रन्थों की रचना की है। इस प्रकार अभिनवगुप्त के स्वयं के लेखों के आधार पर उनका समय ९५०-१०३५ ई. तक निश्चित होता है।

अभिनवगुप्तपाद के विभिन्न शास्त्रों के गुरु

अभिनवगुप्त को विद्याध्ययन का प्रबल व्यसन था। वे प्रत्येक शास्त्र का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहते थे, इसलिए उस समय जिस शास्त्र अथवा विषय का जो सर्वश्रेष्ठ विद्वान् होता था उसी विद्वान् की सेवाकर उससे उस विषय की शिक्षा प्राप्त की। इसीलिए उनके गुरुओं की विवरण सूची अत्यधिक लम्बी हो गयी है। अभिनवगुप्त ने स्वरचित ग्रन्थों में अपने सभी गुरुजनों का वर्णन अत्यन्त श्रद्धा और सम्मान के साथ किया है और इस बात का भी उल्लेख किया है कि किस विशिष्ट गुरु से किस शास्त्र-विशेष की शिक्षा प्राप्त की है। इस प्रकार उन्होंने सात गुरुओं का उल्लेख उनके द्वारा पढ़ाये गये विषयों के सहित इस प्रकार किया है—

१. नरसिंहगुप्त (स्तोत्रकार के पिता)	व्याकरण शास्त्र के गुरु
२. वोमनाथ	द्वैताद्वैत तन्त्र के गुरु
३. भूतिराजतनय	द्वैतवादी शैव सम्प्रदाय के गुरु
४. लक्ष्मणगुप्त	प्रत्यभिज्ञा, क्रम तथा त्रिकदर्शन के गुरु
५. इन्दुराज	ध्वनि-सिद्धान्त के गुरु
६. भूतिराज	ब्रह्मविद्या के गुरु
७. भट्टतोत	नाट्यशास्त्र के गुरु

अभिनवगुप्त ने उपर्युक्त सात के अतिरिक्त तेरह और गुरुओं के नामों का भी उल्लेख किया है जिनसे किसी-न-किसी शास्त्र की शिक्षा प्राप्त की थी, परन्तु उन्होंने किससे कौन-सा शास्त्र पढ़ा इसका कोई वर्णन नहीं किया है। उनके तेरह गुरुओं के नाम इस प्रकार हैं—

१. श्रीचन्द	२. भक्तिविलास	३. योगानन्द
४. चन्द्रवर	५. अभिनन्द	६. शिवभक्त
७. विचित्रनाथ	८. धर्मानन्द	९. शिव
१०. वामन	११. उद्भट	१२. भूतीश
१३. भास्कर		

अभिनवगुप्त ने उक्त सभी गुरुओं का उल्लेख प्राय: 'तन्त्रालोक' में किया है । इस प्रकार उनके कुल गुरुओं की संख्या बीस तक पहुँच जाती है । अभिनवगुप्त की यह सबसे बड़ी विशेषता थी कि सभी गुरु उनकी सेवाभाव[1] से अत्यन्त प्रसन्न होकर बिना विद्या को छिपाये शास्त्रों के सम्पूर्ण रहस्य को उनको बता देते थे । अभिनवगुप्त ने स्वयं इस बात का उल्लेख किया है ।

अभिनवगुप्त की कृतियाँ

अभिनवगुप्त के अध्यापक गुरुओं के समान उनके द्वारा लिखे गये ग्रन्थों की सूची भी अत्यन्त दीर्घ है । सांसारिक अन्य कार्यों से वैराग्य ले लेने के बाद अब एक अध्ययन और ग्रन्थों का प्रणयन—ये दोनों व्यापार उनके साधन थे और शिवभक्ति सर्वप्रमुख साध्य थी । शिवोपासना से अवशिष्ट समय का उपयोग वे इन्हीं दोनों कार्यों में करते थे । जब भी अभिनवगुप्त को किसी उत्कृष्ट कोटि के साधक या किसी शास्त्र के अद्वितीय विद्वान् का पता लग जाता था तो वे उसके पास जाकर जो कुछ भी विद्या या साधना प्राप्त हो सकती थी उसको प्राप्त करने में कोई असावधानी नहीं करते थे । कश्मीर तथा कश्मीर के बाहरी प्रदेशों में जाकर उन्होंने अनेकों विद्वानों से शिक्षा प्राप्त की और उस आश्चर्यजनक तथा विशाल ज्ञानकोशरूपी सुदृढ़ नींव पर विशाल साहित्यरूपी प्रासाद का निर्माण किया । अभिनवगुप्त ने कुल चौवालिस ग्रन्थों का प्रणयन किया था जो इस प्रकार है—

१. बोधपञ्चदशिका
२. मालिनीविजयवार्तिक
३. परत्रींशिका
४. तन्त्रालोक
५. तन्त्रसार
६. तन्त्रवटधानिका
७. ध्वन्यालोकलोचन
८. अभिनवभारती
९. भगवद्गीतार्थसंग्रह
१०. परमार्थसार
११. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी
१२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
१३. पर्यन्तपञ्चाशिका
१४. घटकर्परकुलकविवृति
१५. क्रमस्तोत्र
१६. देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र
१७. भैरवस्तोत्र
१८. परमार्थद्वादशिका
१९. परमार्थचर्चा
२०. महोपदेशविंशतिका
२१. अनुत्तराष्टिका
२२. अनुभवनिवेदन
२३. रहस्यपञ्चदशिका
२४. पञ्चश्लोकी
२५. तन्त्रोच्चय
२६. पुरुवोविचार
२७. क्रमकेलि
२८. शिवदृष्ट्यालोचन

---

१. तन्त्रालोक १२, ४१५

२९. पूर्वपञ्चिका
३०. पदार्थप्रवेशनिर्णयटीका
३१. प्रकीर्णकविवरण
३२. कथामुखतिलक
३३. लघ्वीप्रक्रिया
३४. भेदवादविदारण
३५. देवीस्तोत्रविवरण
३६. तत्त्वाध्वप्रकाशिका
३७. शिवशक्त्याविनाभावस्तोत्र
३८. बिम्बप्रतिबिम्बवाद
३९. प्रकरणविवरण
४०. काव्यकौतुकविवरण
४१. परमार्थसंग्रह (वही ४५९)

उपर्युक्त ४१ कृतियों में से प्रथम १४ कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं ।

अभिनवगुप्त के उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ और भी ग्रन्थ हैं जिनको उन्होंने लिखा था । अभिनवगुप्त ने स्वयं उनका उल्लेख किया है—

(१) उन्होंने 'पूर्वपञ्चिका' नामक ग्रन्थ भी लिखा था, जो उनके द्वारा इस प्रकार वर्णित किया गया है—'पूर्वप्रभृतिपञ्चिकासु'—परात्री. वि. १४७

(२) 'तन्त्रसार' के पृष्ठ ३१ पर इस बात का उल्लेख है कि उन्होंने कुछ और दूसरे स्तोत्रों को भी लिखा है जो स्तोत्र ऊपर वर्णित स्तोत्रों से पृथक् है।

(३) जैसा कि अभिनवगुप्त के स्वरचित स्तोत्रों से भूमिकीय सन्दर्भ में प्राय: उद्धृत करते हैं कि 'मयैव स्तोत्रे' इत्यादि । इस प्रकार के बहुत से उद्धरणों की पहचान नहीं हो पायी है । इससे यह पता चलता है कि उन्होंने अब तक अन्वेषित स्तोत्रों के अतिरिक्त भी कुछ और स्तोत्रों की रचना की थी।

(४) कश्मीरी पण्डितों में प्रचलित एक परम्परा से ज्ञात होता है कि उन्होंने 'योगवाशिष्ठ' पर भी एक टीका लिखी थी ।

'कैटलागस कैटलोगरम' अभिनवगुप्त के सत्रह ग्रन्थों की सूची में निम्नलिखित तीन ग्रन्थों को और सम्मिलित करता है—

(i) परमार्थसारसंग्रह—रिपोर्ट XXX
(ii) परमार्थसारटीका—अवध IX, 22
(iii) स्पन्द—अवध XVI, 124

प्रो. के. सी. पाण्डेय का मानना है कि कश्मीर शोध विभाग से प्रकाशित 'परमार्थसार' नामक ग्रन्थ से उपर्युक्त पहला ग्रन्थ भिन्न नहीं है । यह वही 'परमार्थसार'[१] नामक ग्रन्थ ही है । अभिनवगुप्त के कोलोफोन के अनुसार 'परमार्थसारसंग्रह' ही 'परमार्थसार' है । केवल इसके नाम दो हैं । परमार्थसार में 'संग्रह' शब्द जोड़ दिया है—

---

१. आक्सफो. ३२८ (सी.सी. २५)

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचितः परमार्थसारः ।

सम्पूर्णेयंपरमार्थसारसंग्रहविवृत्तिः

कृतिस्तत्रभवत् परममाहश्वेरश्रीराजानकयोगराजस्य ।

अभिनवगुप्त द्वारा रचित ग्रन्थों की उपर्युक्त सूची में एक से लेकर चौदह तक के ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं और १५-२४ तक एमएसएस (पाण्डुलिपि) हैं जो प्रो. के. सी. पाण्डेय के अधिकार में सुरक्षित हैं । उपर्युक्त ग्रन्थों में संख्या पन्द्रह से लेकर तेइस तक विभिन्न स्तोत्र हैं जिनका हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है । एक 'पञ्चश्लोकी' नामक स्तोत्र अभिनवगुप्त की रचना और प्राप्त हुई है । अगर इस रचना को अभिनवगुप्त की रचना में जोड़ दिया जाय तो उनकी कुल रचनाओं की संख्या छियालिस हो जाती है । २५-३८ तक के ग्रन्थों का उल्लेख या तो अभिनवगुप्त के प्राप्त विभिन्न ग्रन्थों में और एम.एस.एस. में किया गया है । ४०-४४ तक के ग्रन्थों के विषय में विभिन्न कैटलाग और एमएसएस पर शोध सूचनाओं से पता चलता है । अब आगे अभिनवगुप्त की प्रकाशित रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जायेगा—

(१) बोधपञ्चदशिका—श्रीभैरवावतार अभिनवगुप्तपादाचार्य के प्रकाशित ग्रन्थों में इस ग्रन्थ का पहला स्थान है । इसमें शैव सम्प्रदाय के सिद्धान्त के अनुसार शिव-शक्ति के स्वरूप, उनका आपस में सम्बन्ध, उनके द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति-बन्धन के कारण और उनके स्वरूप, मोक्ष के उपाय तथा मोक्ष के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है । इसमें कुल श्लोकों की संख्या सोलह है। किन्तु मुख्य विषय से सम्बन्धित पन्द्रह श्लोक ही हैं । सोलवें श्लोक में इस ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य इस प्रकार बतलाया गया है—

सुकुमारमतीन् शिष्यान् प्रबोधयितुमञ्जसा।
इमेऽभिनवगुप्तेन श्लोकाः पञ्चदशोदिताः ॥

अर्थात् अप्रगल्भ बुद्धिवाले शिष्यों को शैव सिद्धान्त का सरलतापूर्वक ज्ञान कराने के लिए अभिनवगुप्त ने इन पन्द्रह श्लोकों की रचना की है ।

(२) परात्रिंशिकाविवरण—यह ग्रन्थ तन्त्रशास्त्र से सम्बन्धित है । वेदों के पण्डित जिस प्रकार वेदों को अपौरुषेय और अनादि मानते हैं उसी प्रकार तन्त्रागम के विद्वान् भी आगम या तन्त्रग्रन्थों को नित्य स्वीकार करते हैं । वेदान्त दर्शन के सदृश आगमदर्शन में भी द्वैतवादी, अद्वैतवादी तथा द्वैताद्वैतवादी सम्प्रदायों का अस्तित्व है । १० द्वैतवादी, १८ द्वैताद्वैतवादी तथा अद्वैतवादी ६४ तन्त्रों को आठ-आठ करके आठ खण्डों में विभाजित किया

गया है । इनमें-से प्रत्येक खण्ड का पृथक्-पृथक् नाम है । अद्वैतवादी तन्त्रों के दूसरे खण्ड का नाम 'यामलतन्त्र' है । यामल वाले खण्ड में समाविष्ट तन्त्रों में सप्तम तन्त्र का नाम 'रुद्रतन्त्र' है । इसी 'रुद्रतन्त्र' का अन्तिम भाग 'परात्रिंशिका' नाम से जाना जाता है । इसका शुद्ध नाम 'परात्रीशिका' है । इसके नाम से ऐसा लगता है कि इसमें भी 'बोधपञ्चदशिका' के १५ श्लोकों के समान तीस श्लोक होंगे । परन्तु ऐसा नहीं है । इसमें तीस से अधिक श्लोक हैं । अभिनवगुप्त ने जब 'परात्रिंशिका' पर अपना विवरण ग्रन्थ लिखा तो उन्होंने इसके नाम की व्याख्या करते हुए इस प्रकार लिखा—

'त्रीशिका इति तिसृणां शक्तीनां इच्छा-ज्ञान-क्रियाणां.......ईशिका च ईश्वरी ।'

अर्थात् पराशक्ति की इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों का प्रतिपादन होने के कारण इसका नाम 'परात्रिंशिका' रखा गया है । उन्होंने 'त्रिंशिका' नाम पर पुनः इस प्रकार लिखा है—

'त्रिंशिका इत्यपि गुरवः पठन्ति, अक्षरवादसाम्यात् न तु त्रिंशत् श्लोकयोगात् त्रिंशिका ।'

अर्थात् गुरु लोग इस ग्रन्थ को 'परात्रिंशिका' भी कहते हैं । परन्तु यह त्रिंशिका पद केवल वर्णों के उच्चारण की समानता के कारण प्रयुक्त होता है न कि तीस श्लोकों के सम्बन्ध के कारण । इस परात्रिंशिका को जयरथ ने अपनी तन्त्रालोक की टीका में 'त्रिकसूत्र' नाम से वर्णन किया है—

'श्री त्रिकसूत्रे इति त्रिक-प्रमेयसूचिकायां परात्रीशिकायामित्यर्थः ।'

'परात्रिंशिका' पर लिखा गया अभिनवगुप्त का विवरण नामक ग्रन्थ मूलग्रन्थ की व्याख्या है । मूलग्रन्थ प्राचीनकाल से ही विद्वानों के लिए अत्यन्त आदृत था । इस ग्रन्थ पर अनेक शैव विद्वानों ने अपनी-अपनी मनीषानुसार विभिन्न टीकायें लिखी थी । अभिनवगुप्त ने उन टीकाओं में से कुछ का उल्लेख अति सम्मान के साथ किया है—

श्रीसोमानन्दकल्याण-भवभूतिपुरोगमाः ।
तथा हि त्रीशिकाशास्त्र-विवृतौ तेऽभ्यर्धुबुधाः ॥

उपर्युक्त श्लोक में उन्होंने सोमानन्द, कल्याण तथा भवभूति का वर्णन आदरपूर्वक किया है परन्तु 'परात्रिंशिका' पर कुछ अन्य विद्वानों ने भी कुछ अन्य टीकायें लिखी थी । अभिनवगुप्त ने उन टीकाकारों का उल्लेख करते हुए उनको पदवाक्यसंस्कारविहीन घोषित किया है और उनका वर्णन करने में उन्होंने अपनी अरुचि दिखलाई है—

'इतीदृग व्याख्यानं त्यक्त्वा यदन्यैर्व्याख्यातम् । यद्यपि पदवाक्य-संस्कारविहीनैः सह गोष्ठी कृताभवति ।'

मूलग्रन्थ की रचना भैरव-भैरवी के संवाद के रूप में हुई है । भैरवी के प्रश्नों का भैरव उत्तर देते हैं । भैरवी ने भैरव से 'अनुत्तरतत्त्व' के सम्बन्ध में प्रश्न पूछा है—

अनुत्तरं कथं देव सद्यः कौलिकसिद्धिदम् ।
येन विज्ञातमात्रेण खेचरीसमतां व्रजेत् ॥

इसके उत्तर में भैरव के कथन का सारांश वही है जो वैदिक ग्रन्थों 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' आदि वाक्यों में अभिव्यक्त किया गया है ।

(३) मालिनीविजय वार्तिक—यह ग्रन्थ उनके प्रकाशित ग्रन्थों में तीसरा है। यह 'मालिनीविजय' नामक तान्त्रिक ग्रन्थ पर एक व्याख्या ग्रन्थ है । 'मालिनीविजय' का दूसरा नाम 'श्रीपूर्वशास्त्र भी है । मन्द्र तथा कर्ण नामक अपने दो शिष्यों के अतिप्रार्थना से प्रेरणा पाकर अभिनवगुप्त ने 'मालिनीविजय' के ऊपर अपने इस वार्तिक को लिखा था । इस बात का वर्णन उन्होंने स्वयं अपने इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में किया है—

सच्छिष्य-कर्ण-मन्द्रभ्यां चोदितोऽहं पुनः पुनः ।
वाक्यार्थं कथये श्रीमन्मालिन्यां
यत् क्वचित् क्वचित् ॥

'मालिनीविजयतन्त्र' कोई बहुत बड़ा ग्रन्थ प्रतीत होता है । उस सम्पूर्ण ग्रन्थ पर व्याख्या करने का विचार भी अभिनवगुप्त का नहीं जान पड़ता है । इसीलिए यहाँ ऊपर के श्लोक में 'क्वचित् क्वचित्' का प्रयोग किया है । 'मालिनीविजयवार्तिक' का जो भाग मुद्रित हुआ है उसमें केवल दो अध्याय है। उन दो अध्यायों में भी केवल एक श्लोक की व्याख्या की गई है । इस ग्रन्थ की रचना अभिनवगुप्त ने अपने मन्द्र और कर्ण नामक शिष्य के आग्रह से की है । यह मन्द्र नामक शिष्य अभिनवगुप्त का बड़ा प्रिय शिष्य था । माता-पिता के वियोग के बाद अभिनवगुप्त अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठे थे और कुछ विक्षिप्त रहने लगे थे । उस समय—

विक्षिप्तभावपरिहारमसौ चिकीर्षनु
मन्द्रः स्वके पुरवरे स्थितिमस्य चक्रे ।

मन्द्र नामक यह शिष्य अभिनवगुप्त को उनके घर से हटाकर अपने 'प्रवरपुर' नगर में ले गया और वहीं उनके रहने का प्रबन्ध कर दिया । वहीं 'प्रवरपुर' नामक नगर के पूर्वभाग में रहकर अभिनवगुप्त ने इस 'मालिनीविजय'

के प्रथम श्लोक की व्याख्यारूप 'मालिनीविजयवार्तिक' नामक ग्रन्थ की रचना की—

प्रवरपुरनामधेये पुरे पूर्वे
काश्मीरिकोऽभिनवगुप्तः ।
मालिन्यादिमवाक्ये वार्तिकमेतद्रचयति स्म् ॥

यद्यपि 'मालिनीविजयतन्त्र' के एक ही श्लोक पर यह वार्तिक लिखा गया है और उसके दो ही अध्याय प्रकाशित हुए हैं किन्तु इसके १८वें अध्याय का उल्लेख अभिनवगुप्त ने इसी ग्रन्थ में कई बार किया है—

'एतदष्टादशे तत्वमाधिकारे भविष्यति ।'—मा.वि.वा. ५८

'अष्टादशे तत्पटले तत्वं सम्यग् विभाव्यते ।'—मा.वि.वा. १०४

आदि अनेकों वर्णनों से पता चलता है कि अभिनवगुप्त इस ग्रन्थ के १८वें अध्याय तक तो वार्तिक की रचना करना ही चाहते थे परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थ के अत्यधिक विस्तार हो जाने के डर से उसको आगे नहीं लिख सके । उनके द्वारा दो अध्यायों तक लिखे गये वार्तिक का प्रकाशन हो गया ।

(४) **तन्त्रालोक**—यह अभिनवगुप्त का चौथा प्रकाशित ग्रन्थ है । यह उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण और अत्यन्त विशालकाय ग्रन्थ है । यह तान्त्रिक वाङ्मय का विश्वकोश माना जाता है । इसमें कुल सैंतीस अध्याय हैं । सम्पूर्ण तन्त्रालोक का सम्पादन और हिन्दी अनुवाद मेरे पिता प्रो. राधेश्याम चतुर्वेदी द्वारा किया जा चुका है और पाँच भागों में चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन द्वारा लगभग चार वर्षों पूर्व ही प्रकाशित हो चुका है ।

जिन अद्वैतवादी चौंसठ तन्त्रों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है, उनमें उन सभी आगमों की विषयवस्तु का विस्तृत प्रतिपादन किया गया है । कौलसिद्धान्त और तन्त्रसिद्धान्त का वर्णन ही इस ग्रन्थ का मुख्य आधार है । परन्तु इन सिद्धान्तों के अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञा दर्शन से सम्बन्धित सिद्धान्त और क्रमदर्शन के सिद्धान्त इत्यादि दूसरे विषय वस्तुओं का भी अनेक स्थलों पर इस ग्रन्थ में प्रामाणिक वर्णन किया गया है । इस वैशिष्ट्य का प्रतिपादन स्वयं करते हुए उन्होंने लिखा है—

वक्ष्यमाणस्य कुलतन्त्रप्रक्रियात्मकत्वेन द्वैविध्येऽपि—

'तस्य मे सर्वशिष्यस्य नोपदेशदरिद्रता'

इत्यादिदृश सर्वत्रैव गुरुपदेशस्य भावात् आत्मानि भूयोविद्यत्वं दर्शयता ग्रन्थकृता अस्य ग्रन्थस्यापि निखिलशास्त्रान्तरसारसंग्रहभिप्रायत्वं दर्शितम् ।

'सर्वशिष्यस्य नोपदेशदरिद्रता' से अभिनवगुप्त ने सर्वशास्त्रों पर अपने अधिकार को सूचित किया है इसलिए इसमें उन्होंने किसी भी विषय पर जो कुछ लिखा है वह उस-उस शास्त्र के विशेष आचार्यों के वचनों के समान ही प्रामाणिक है यह बात सूचित की है । 'तन्त्रालोक' की प्रशंसा में अभिनवगुप्त ने लिखा है—

इति सप्तार्धिकमेनां त्रिंशतं यः सदा बुधः ।
आन्हिकानां समभ्यस्येत स साक्षात् भैरवो भवेत्॥ १-१२८

इस श्लोक से प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ में ३७ आह्निक हैं किन्तु अभी तक इसके केवल १४ आह्निक प्रकाशित हुए हैं । उनके ऊपर जयरथ की टीका भी प्रकाशित हुई है । जयरथ की टीका सहित तन्त्रालोक के १४ आह्निक आठ जिल्दों में प्रकाशित हो चुके हैं । इससे ग्रन्थ के विशाल आकार का अनुमान किया जा सकता है । २३ आह्निक और शेष हैं। इसी हिसाब से यदि शेष आह्निकों का भी कलेवर हुआ तो लगभग २० भागों में उसकी समाप्ति हो सकेगी । तन्त्रालोक के जो १४ आह्निक अब तक प्रकाशित हुए हैं उनमें से आदि के पाँच, नवम तथा त्रयोदश आह्निक दार्शनिक दृष्टि से विशेष, महत्वपूर्ण हैं । अभिनवभारती के आरम्भ के मङ्गलश्लोक में 'षटत्रिंशकात्मकजगद्गगनावभास' आदि में अभिनवगुप्त ने शैव-दर्शन के जिन ३६ तत्त्वों की ओर सङ्केत किया है उनका प्रतिपादन नवम आह्निक में किया गया है इसलिए उस आह्निक का और भी अधिक महत्त्व है । इस ग्रन्थ का नाम 'तन्त्रालोक' क्यों रखा है इसका प्रदर्शन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—

'आलोकमासाद्य यदीयमेष लोकः स्वयं सञ्चरति क्रियासु ।'

अर्थात् इसके प्रकाश को प्राप्त कर जगत् अपने सम्पूर्ण क्रिया कलापों को सम्यक् रीति से सरलतापूर्वक सम्पादित कर सकता है । इसी कारण इसका नाम 'तन्त्रालोक' युक्तियुक्त ही है । अभिनवगुप्त ने अपने 'मालिनीविजय-वार्तिक' ग्रन्थ की तरह इस ग्रन्थ की भी रचना उन्होंने अपने शिष्य मन्द्र, मनोरथ तथा अन्य शिवाराधकों के विनम्र निवेदन से प्रेरणा प्राप्त कर की है ।

५-६. तन्त्रसार एवं तन्त्रवटधानिका—ये दोनों ग्रन्थ भी अभिनवगुप्त के प्रकाशित ग्रन्थों की सूची में आते हैं । दोनों ग्रन्थों के नामों से उनकी विषयवस्तु का अनुमान किया जा सकता है । तन्त्रालोक के संक्षिप्त रूप का नाम ही 'तन्त्रसार' है तथा तन्त्ररूपी विशाल बरगद के वृक्ष के बीज के समान तन्त्रसार से भी अत्यन्त लघुकाय ग्रन्थ 'तन्त्रवटधानिका' नामक ग्रन्थ है । व्याकरण शास्त्र के ग्रन्थ सिद्धान्तकौमुदी मध्यसिद्धान्तकौमुदी तथा लघुसिद्धान्त-

कौमुदी के समान 'तन्त्रालोक' के भी ये लघुतर क्रम में तीन स्वरूप हैं। विशालकाय ग्रन्थ का नाम 'तन्त्रालोक' उसका मध्य संक्षिप्त रूप 'तन्त्रसार' तथा और अधिक संक्षिप्त रूप 'तन्त्रवटधानिका' है।

७-८. ध्वन्यालोक पर लोचन तथा नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती नामक टीकायें—उपर्युक्त सभी दार्शनिक ग्रन्थ शैव दर्शन से सम्बन्ध रखने वाले दार्शनिक ग्रन्थ हैं। अभिनव के दार्शनिक ग्रन्थों का परिचय लोगों को कम है किन्तु उनके ध्वन्यालोक-लोचन तथा अभिनवभारती का परिचय उनकी अपेक्षा कहीं अधिक है। विशेष रूप से ध्वन्यालोक-लोचन के द्वारा ही उनको साहित्यिक जगत् में विशेष ख्याति प्राप्त हुई है। ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धनाचार्य का ध्वनि-विषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उस पर अभिनवगुप्त ने 'लोचन' नामक टीका लिखी है। उसका नाम 'ध्वन्यालोकलोचन' है। इसी प्रकार भरतमुनि के नाट्यशास्त्र पर अभिनवगुप्त ने जो टीका लिखी है उसका नाम 'अभिनवभारती' है।

'तच्च मदीयादेव तद्विवरणात् सहृदयालोकलोचनादवधारणीयम्' (अभि. ३३४ व. सं.) लिखकर ग्रन्थकार ने जिस सहृदयालोकलोचन का उल्लेख किया है वह 'ध्वन्यालोकलोचन' का ही दूसरा नाम है। इस प्रकार अभिनवभारती में ध्वन्यालोकलोचन का उल्लेख पाए जाने से यह स्पष्ट है कि 'ध्वन्यालोकलोचन' की रचना अभिनवभारती से पहले हुई है और ध्वन्यालोकलोचन के प्रारम्भ में 'तन्त्रालोकग्रन्थे विचार्य' इन शब्दों में 'तन्त्रालोक' का उल्लेख मिलता है इसलिए इन दोनों सहित्य ग्रन्थों की रचना तन्त्रालोक के बाद हुई है यह बात स्पष्ट हो जाती है।

९. भगवदगीतार्थसंग्रह—अभिनवगुप्त के द्वारा गीता पर शैवदृष्टि से लिखी गयी टीका नाम 'भगवद्गीतार्थसंग्रह' है। यह एक शैव ग्रन्थ नहीं है किन्तु यह शैवी टीका अवश्य है। उपर्युक्त सभी दार्शनिक ग्रन्थ शैवशास्त्रों की व्याख्या है।

यद्यपि शैवागमों की उत्पत्ति तीसरी या चौथी शताब्दी में हुई है किन्तु शैव विद्वान् उनको वेदों के समान ही अनादि मानते हैं। इसलिए उनकी दृष्टि में शैवागम कृष्ण की गीता से भी कहीं अधिक प्राचीन है। हरिवंश पुराण के अनुसार कृष्ण ने ६४ अद्वैतवादी तन्त्रों का अध्ययन दुर्वासा मुनि से किया था। इसी प्रकार महाभारत के मोक्षपर्व में कृष्ण ने द्वैतवादी १० तथा अद्वैतवादी १८ कुल मिलाकर २८ शैवागमों का अध्ययन उपमन्यु से किया था। इसलिए शैव लोग कृष्ण को त्रिकसिद्धान्त का आचार्य मानते हैं। इसीलिए कृष्ण की गीता पर वसुगुप्त से लेकर अभिनवगुप्त तक अनेक शैव विद्वानों ने टीकाएँ लिखीं हैं—

तास्वन्यैः प्राक्तनैर्व्याख्याः कृता यद्यपि भूयसा।
न्याय्यस्तथाप्युद्यमो मे तद्गूढार्थप्रकाशकः॥

—भगवद्गीतार्थसंग्रह १-५

इसीलिए शैव आचार्य कृष्ण को अपना गुरु मानते हैं और तन्त्रालोक १-१६२ में 'गुरुवाक्य' कहकर गीतावाक्य को उद्धृत किया गया है। इस प्रकार शैव सम्प्रदाय में भी गीता का विशेष महत्व होने से अभिनवगुप्त ने भट्टेन्दुराज से गीता का अध्ययन कर शैव-सिद्धान्तों के अनुसार इसकी व्याख्या प्रस्तुत की है—

भट्टेन्दुराजादाम्नायं विविच्य च चिरं धिया।
कृतोऽभिनवगुप्तेन सोऽयं गीतार्थसंग्रहः॥ १-६

अभिनवगुप्त ने इस टीका की रचना लोटक नामक सद्विप्र के आग्रह से की है—

तच्चरणकमलमधुपो भगवद्गीतार्थसंग्रहं व्यधात्।
अभिनवगुप्तः सद्द्विजलोटककृतचोदनावशतः॥

—अन्तिम श्लोक २

१०. परमार्थसार—यह ग्रन्थ अभिनवगुप्त के प्रकाशित ग्रन्थों में १०वाँ ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ १०५ आर्या छन्दों में निबद्ध है। यद्यपि अभिनवगुप्त ने इसे केवल १०० श्लोकों में लिखा हुआ बतलाया है—

आर्याशतेन तदिदं संक्षिप्तं शास्त्रसारमतिगूढम्।

किन्तु यह आर्याशत का प्रयोग मुख्य विषय के प्रतिपादक १०० पद्यों की दृष्टि से किया गया है। वैसे इसमें १०५ श्लोक हैं।

यह 'परमार्थसार' शेष-मुनि कृत 'आधारकारिका' नामक प्राचीन ग्रन्थ का संक्षिप्त संस्करण है। शेष-मुनि को आधार भगवान् या अनन्तनाथ भी कहा जाता है और उनकी 'आधारकारिका' का दूसरा नाम 'परमार्थसार' भी है। इस आधारकारिका में मुख्य रूप से सांख्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। उसी के अनुसार प्रकृति-पुरुष के भेदज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति का वर्णन है। अभिनवगुप्त ने अपने 'परमार्थसार' में उसको शैवागम के अनुसार अपने ढाँचे में ढाल लिया है।

अभिनवगुप्त के 'परमार्थसार' को छोड़कर इसी नाम से तीन ग्रन्थ और पाए जाते हैं। एक का पाठ 'शब्दकल्पद्रुम' में दिया गया है। दूसरा 'त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज' में प्रकाशित हुआ है और तीसरा मद्रास से १९०७ में तेलुगु भाषा में दिए भावार्थ के सहित प्रकाशित हुआ है। 'शब्दकल्पद्रुम' के

परमार्थसार की अन्तिम पंक्ति में उसकी श्लोक संख्या ८५ दी गई है। त्रिवेन्द्रम से प्रकाशित संस्करणों में भी ८५ श्लोक हैं। परन्तु मद्रास वाले संस्करण में ७९ श्लोक हैं। इन सबमें अधिकांश श्लोक अभिनवगुप्त के परमार्थसार से मिलते-जुलते हैं। कहीं कुछ भेद भी है और कुल संख्या के विषय में तो भेद है ही। अभिनवगुप्त के 'परमार्थसार' में १०० या १०५ श्लोक हैं अन्यों में ८५ या ७९। अभिनवगुप्त के परमार्थसार को छोड़कर मुख्यरूप से मद्रास वाला संस्करण वैष्णव भावनाओं के अनुकूल है। इसलिए डा. बर्नेट आदि कुछ विद्वान् उसको ही मूल ग्रन्थ मानते हैं। उनका कहना है कि अभिनवगुप्त ने उसी के आधार पर अपने ग्रन्थ की रचना की है।

जैसे अभिनवगुप्त ने 'भगवद्गीतार्थसंग्रह' में 'भगवद्गीता' पर शैव सम्प्रदाय का रङ्ग चढ़ाने का सफल प्रयत्न किया है उसी प्रकार वैष्णव परमार्थसार पर भी शैवीय विचारों का रङ्ग चढ़ा दिया गया है। परन्तु अधिकांश विद्वान् उक्त तर्क से असहमत हैं।

११. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी—यह अभिनवगुप्त का ग्यारहवाँ प्रकाशित ग्रन्थ है। यह आचार्य उत्पल के द्वारा लिखित 'ईश्वरप्रत्याभिज्ञासूत्र' की वृत्ति के रूप में रचित ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ पर आचार्य अभिनवगुप्त ने दो वृत्तियाँ लिखी हैं जिनमें एक का नाम 'लघ्वी विमर्शिनी' तथा दूसरी का नाम 'बृहतीविमर्शिनी है।

उत्पलपादाचार्य ने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्र' लिखने के बाद स्वयं ही उस पर विवृति भी लिखी थी। अभिनवगुप्त ने मूल 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्र' तथा उसकी विवृति दोनों पर 'विमर्शिनी' नामक टीका लिखी है। मूल सूत्र पर लिखी टीका 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' कहलाती है और उसकी विवृति पर लिखी हुई टीका 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति-विमर्शिनी' कहलाती है। प्राचीन काल में ग्रन्थ का परिमाण श्लोकों से मापा जाता था। अनुष्टुप् श्लोक में ३२ अक्षर होते हैं। यदि कोई गद्यात्मक ग्रन्थ है तो उसके भी ३२ अक्षरों का एक श्लोक मानकर उसके परिमाण का निर्धारण किया जाता था। इस प्रक्रिया के अनुसार 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' चार सहस्र श्लोकों का ग्रन्थ है और 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृति-विमर्शिनी' १८ सहस्र श्लोकों का ग्रन्थ है। इसलिए पहली को 'चतु:साहस्री' अथवा 'लघ्वी-विमर्शिनी' तथा दूसरी को 'अष्टादशसाहस्री' अथवा 'बृहती-विमर्शिनी' भी कहा जाता है।

१२. ईश्वरप्रत्याभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी—अभिनवगुप्त के ग्रन्थों में यह अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ यद्यपि 'उत्पलपादाचार्य' की स्वविरचित विवृति के ऊपर टीकारूप में लिखा गया है किन्तु वह विवृति ग्रन्थ अभी तक

उपलब्ध नहीं है केवल उसकी यह टीका उपलब्ध है और वह भी अभी प्रकाशित नहीं हुई है । इस टीका के प्रारम्भ में अभिनवगुप्त ने अपने को उत्पलपादाचार्य का प्रशिष्य कहकर अपना परिचय देते हुए लिखा है—

श्रीमल्लक्ष्मणगुप्तदर्शितपथः. श्री प्रत्यभिज्ञाविधौ।
टीकार्थप्रविमर्शिणीं रचयते वृत्तिं प्रशिष्यो गुरोः ॥

१३-२१. अभिनवगुप्त की तेरह से इक्कीस तक 'स्तोत्रों के रूप में रचनायें'—अभिनवगुप्त की उपर्युक्त बारह रचनाओं के पश्चात् इनकी नव लघु रचनायें भी स्तोत्रों के रूप में हैं और इन नव स्तोत्रों में से आठ स्तोत्र डॉ. के. सी. पाण्डेय के अभिनवगुप्त से सम्बन्धित शोध प्रबन्ध में परिशिष्ट में छप चुके हैं । केवल 'पञ्चश्लोकी' नामक स्तोत्र संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित 'शिवस्तोत्रावलि' में प्रकाशित है । आचार्य अभिनवगुप्त के उपर्युक्त स्तोत्रों का प्रस्तुत पुस्तक में आंग्ल और हिन्दी भाषा में अनुवाद किया गया है। सभी स्तोत्रों के नाम और उसमें आये हुए श्लोकों की संख्या इस प्रकार है—

१. क्रमस्तोत्र	३० श्लोक
२. भैरवस्तोत्र	१० श्लोक
३. देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र	१५ श्लोक
४. अनुभवनिवेदन	४ श्लोक
५. अनुत्तराष्टिका	८ श्लोक
६. परमार्थद्वादशिका	१३ श्लोक
७. परमार्थचर्चा	८ श्लोक
८. महोपदेशविंशतिकम्	२० श्लोक
९. पञ्चश्लोकी	५ श्लोक

इस प्रकार उनकी कुल इक्कीस रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया गया । यहाँ हम स्तोत्रों की विषयवस्तु की चर्चा इसलिए नहीं कर रहे हैं क्योंकि प्रस्तुत पुस्तक में आगे स्तोत्रों का ही वर्णन है ।

२२. तन्त्रोच्चय—तान्त्रिक वाङ्मय के विश्वकोश 'तन्त्रालोक' के 'तन्त्रसार' तथा 'तन्त्रवटधानिका' नामक दो लघुरूपों का पूर्वोल्लेख किया जा चुका है । उसी प्रकार का तीसरा संक्षिप्त रूप 'तन्त्रोच्चय' है । यह 'तन्त्रसार' से थोड़ा छोटा तथा 'तन्त्रवटधानिका' से बड़ा है । इस ग्रन्थ के प्रारम्भिक तथा अन्तिम श्लोकों में इसे अभिनवगुप्त की कृति बतलाई गयी है । परन्तु कुछ विद्वानों ने इसकी भाषादि पर विचार कर इसके अभिनवगुप्त की रचना होने में सन्देह व्यक्त किया है ।

२३. **घटकर्परकुलकविवृति**—इसके नाम से ही प्रतीत होता है कि यह किसी 'घटकर्परकुलक' नामक ग्रन्थ की टीका है । 'घटकर्पर' एक लघुकाय रमणीय काव्यग्रन्थ है । इसमें कुल श्लोकों की संख्या बीस है । इसकी रचना 'मेघदूत' के समान विरही प्रेमीजनों की कहानी को लेकर की गयी है किन्तु दोनों की रचना में इतना अन्तर है कि मेघदूत में सब पदों का वक्ता प्रेमी यक्ष है और इसमें सारे पद्य प्रेमिका के द्वारा कहे गए हैं । घटकर्परकुलकविवृति में अभिनवगुप्त ने—'अस्य कर्ता महाकविः कालिदासः इत्यनुश्रुतमस्माभिः' लिखकर इसका रचयिता कालिदास को माना है । सभी बीसों पद्य यमकालङ्कार से विभूषित हैं । इसके लेखक को यह गर्व है कि कोई उससे बढ़कर यमक की रचना नहीं कर सकता है । इसलिए उसने ग्रन्थ के अन्तिम उपसंहारात्मक २१वें श्लोक में सारे कवियों का आह्वान करते हुए लिखा है—

जीयेय येन कविना यमकैः परेण ।
तस्मै वहेयमुदकं घटकर्परेण ॥

अर्थात् यदि कोई दूसरा कवि यमकरचना में मुझे जीत ले, तो मैं उसका दास्य स्वीकार कर घट के कर्पर अर्थात् खप्पड़ में (अत्यन्त कष्टपूर्वक) पानी भरने को तैयार हूँ । कुछ लोगों का विचार है कि इस अन्तिम पद्य में आये हुए 'घटकर्पर' शब्द के आधार पर ही इसका नाम 'घटकर्पर' रखा गया है । कुछ लोगों का विचार यह है कि विक्रम की राजसभा में कालिदास के साथ दूसरे महाकवि 'घटकर्पर' ने कदाचित् इसकी रचना की है और ऊपर के श्लोक में दिया हुआ आह्वान कदाचित् कालिदास को लक्ष्य में रखकर किया गया है ।

नवीन विद्वान् रामचरित शर्माकृत टीका सहित इस ग्रन्थ का प्रकाशन हो चुका है । उनके अनुसार इसके सारे पद्य नायिका के ही कहे हुए हैं किन्तु अभिनवगुप्त ने जो इसका विवरण दिया है, उसमें लिखा है—

'तत्र किञ्चित् कविनिबद्धप्रमदारूपवक्तृकं, किञ्चित् कविनिबद्ध-तत्सखीभाषितं, किञ्चित् कविनिबद्धदूतीभाषितम् ।'

अर्थात् कुछ नायिका का कहा हुआ है, कुछ उसकी सखी का और कुछ दूती का किन्तु मुद्रित संस्करण में सबका वक्तृत्व नायिका में रखा गया है । इस काव्य की प्रशंसा करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है—

'न चास्य काव्ये तृणमात्रमपि कलङ्कमुत्प्रेक्षितवन्तो मनोरथेऽपि स्वप्नेऽपि सहृदयाः । तस्मात् प्राक्तन् एव समाप्तिश्लोकः ।'

अर्थात् अभिनवगुप्त के विचार में यह एक सर्वथा निर्दुष्ट काव्य है ।

इसकी इतिश्री इक्कीसवें श्लोक में ही होजाती है । इक्कीसवाँ श्लोक काव्य का मूल श्लोक ही है । वह बाद में लिखा गया श्लोक नहीं है । अभिनवगुप्त ने इस निर्दुष्ट और रमणीय काव्य पर वृत्ति लिखने के पहले अपने हृदय को भी दोष से रहित और पवित्र बना लेने की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए इस प्रकार लिखा है—

तत्परामर्शधवलमनाः कोकनदो मनाक् ।
काव्येऽभिनवगुप्ताख्यो विवृतिं समरीरचत् ॥

२४-३६. तेरह ग्रन्थों का अभिनवगुप्त के स्वरचित ग्रन्थों में उल्लेख— आचार्य अभिनवगुप्त के अग्रिम तेरह ग्रन्थ प्रकाशित और अप्रकाशित किसी भी रूप में प्राप्त नहीं होते हैं किन्तु उनके दूसरे ग्रन्थों में उनका उल्लेख पाया जाता है । उन्हीं वर्णनों के आधार पर विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि वे ग्रन्थ अभिनवगुप्त के द्वारा रचित हैं । वे ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

१. क्रमकेलि—इन तेरह ग्रन्थों में सर्वप्रथम ग्रन्थ 'क्रमकेलि' है । अभिनव-गुप्त ने अपने 'परात्रिंशिकाविवरण' नामक ग्रन्थ में इसका वर्णन किया है—

'व्याख्यातं चैतत् मया तट्टीकायां क्रमकेलौ विस्तरतः ।'

यह क्रमकेलि क्रमस्तोत्र की टीका थी । यह क्रमस्तोत्र जिसकी टीका 'क्रमकेलि' है, अभिनवगुप्त के अपने रचे हुए 'क्रमस्तोत्र' से भिन्न कोई और प्राचीन ग्रन्थ था क्योंकि 'महार्थमञ्जरी' की टीका में महेश्वरानन्द ने उसके बहुत उद्धरण दिए हैं और वे उद्धरण अभिनवगुप्त वाले 'क्रमस्तोत्र' में नहीं मिलते हैं। इसलिए क्रम सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाला यह 'क्रमस्तोत्र' जिस पर अभिनवगुप्त ने 'क्रमकेलि' नामक टीका लिखी थी, उनके अपने द्वारा रचे गये 'क्रमस्तोत्र' से भिन्न ही ग्रन्थ रहा होगा ।

२. शिवदृष्ट्यालोचन—'शिवदृष्टि' त्रिकदर्शन के परमाचार्य सोमानन्द का प्रसिद्ध ग्रन्थ है । 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी' में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अभिनवगुप्त ने अपने को उत्पलपादाचार्य का प्रशिष्य कहा था । सोमानन्द उन उत्पलपादाचार्य के भी गुरु थे इसलिए वे अभिनवगुप्त के परम प्रगुरु हुए । उनके 'शिवदृष्टि' ग्रन्थ के ऊपर अभिनवगुप्त ने 'शिवदृष्ट्यालोचन' टीका लिखी थी । किन्तु वह किसी रूप में उपलब्ध नहीं हो रही है । अभिनवगुप्त ने अपने 'परात्रिंशिकाविवरण' में उसका उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

यथोक्तं मयैव शिवदृष्ट्यालोचने—

सोऽपि स भवेद यस्य शक्तता नाम विद्यते । —प.त्री.११६

३. पूर्वपञ्चिका—'मालिनीविजयतन्त्र' का दूसरा नाम 'श्रीपूर्वशास्त्र' भी है। इस 'मालिनीविजय' के आदि वाक्य अर्थात् केवल प्रथम श्लोक के ऊपर अभिनवगुप्त ने 'मालिनीविजयवार्तिक' लिखा था। उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसी 'श्रीपूर्वशास्त्र' के ऊपर दूसरा व्याख्या ग्रन्थ 'पूर्वपञ्चिका' नाम से भी अभिनवगुप्त ने लिखा था। इस प्रकार की पञ्चिका या टीकाएँ उन्होंने अन्य तन्त्रग्रन्थों पर भी लिखी थीं। इनका उल्लेख भी अभिनवगुप्त ने 'परात्रिंशिका-विवरण' में निम्न प्रकार किया है—

'निर्णीतं चैतन्मयैव पूर्वप्रभृतिपञ्चिकासु।—प.त्री. १४७

४. पदार्थप्रवेशनिर्णय-टीका—इसके नाम से प्रतीत होता है कि त्रिकदर्शन के अभिमत ३६ पदार्थों का वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया होगा। इसका उल्लेख भी 'परात्रिंशिकाविवरण' में इस प्रकार किया गया है—

'वितत्य च विचारितं मयैतत् पदार्थप्रवेशनिर्णयटीकायाम्।'

परन्तु आज न तो 'पदार्थप्रवेश' ग्रन्थ मिलता है और न उसकी यह टीका ही मिलती है।

५. प्रकीर्णकविवरण—तन्त्रालोक के ७-३३ में अभिनवगुप्त ने लिखा है—'इत्थं जडे सम्बन्धे न मुख्यस्यार्थसङ्गतिः। आस्तां, अन्यत्र विततमेतद् विस्तरतो मया।' इसके ऊपर टीका करते हुए जयरथ ने लिखा है—

'अन्यत्रेति प्रकीर्णकविवरणादौ।'

६. प्रकरणविवरण—यह 'प्रकरणस्तोत्र' की टीका है और 'तन्त्रसार' श्लोक ३१ में उसका उल्लेख किया गया है।

७. काव्यकौतुकविवरण—अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत ने अलङ्कार शास्त्र के विषय में 'काव्यकौतुक' ग्रन्थ लिखा था। उसी की टीका रूप में अभिनवगुप्त ने इस 'काव्यकौतुक विवरण' की रचना की थी। अभिनवगुप्त ने अपने 'ध्वन्यालोकलोचन' में भट्टतौत के 'काव्यकौतुक' ग्रन्थ और उस पर अपने विवरण का उल्लेख करते हुए लिखा है—

'स स्वयमस्मदुपाध्याय—भट्टतौतेन काव्यकौतुके, अस्माभिश्च तद्विवरणे बहुतरकृतनिर्णयः पूर्वपक्षसिद्धान्तः। इत्यलं बहुना।'

—ध्वन्यालोकलोचन १७८

८. कथामुखतिलकम्—इस ग्रन्थ का उल्लेख अभिनवगुप्त ने अपनी 'बृहतीविमर्शिनी' में स्वकृत ग्रन्थ के रूप में किया है किन्तु उसका विषय क्या था यह कहना कठिन है।

९. लघ्वीप्रक्रिया—यह कोई भक्तिपूर्ण स्तोत्र है । 'भगवद्गीतार्थसंग्रह' में इसका उल्लेख करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है—

यथा च मयैव लघ्व्यां प्रक्रियायामुक्तम्—

न भोग्यं व्यतिरिक्तं हि भोक्तुस्तत्त्वं विभाव्यते।
एष एव हि भोगो यत् तादात्म्यं भोक्तृभाग्ययोः॥

१०. भेदवादविवरण—इस ग्रन्थ का उल्लेख 'भगवद्गीतार्थसंग्रह' तथा 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' दोनों ग्रन्थों में पाया जाता है । 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' में लिखा है—

'कृतप्रतानश्चायं प्रकृत्यर्थं-व्यर्थविवेको मयैव भेदवादविवरणे इति तत एवान्वेष्यः ।'—ई. प्र. वि. २-१५८

११. देवीस्तोत्र विवरण—'भगवद्गीतार्थसंग्रह' के अ. ६ श्लो. ३० की व्याख्या में इस ग्रन्थ का उल्लेख अभिनवगुप्त ने इस प्रकार किया है—

'विस्तरस्तु भेदवादविवरणादिप्रकरणे, देवीस्तोत्रविवरणे च मयैव निर्णीतः ।'

आनन्दवर्धनाचार्य के 'देवीस्तोत्र' के ऊपर यह टीकाग्रन्थ प्रतीत होता है ।

१२. तत्त्वाध्वप्रकाशिका—इस ग्रन्थ में कदाचित् त्रिकदर्शन के ३६ तत्त्वों का संक्षेप में वर्णन किया गया होगा । तन्त्रालोक की टीका में जयरथ ने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है—

'ग्रन्थकृता च तत्त्वाध्वप्रकाशनादौ तत्र च तत्त्वालम्बनमेव कृतम् ।

—तन्त्रालोक (टीका) ११-१९

१३. शिवशक्त्यविनाभावस्तोत्र—'भगवद्गीतार्थसंग्रह' में १५वें अध्याय के १९वें श्लोक की व्याख्या में ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ का नाम दिया है । जैसा कि इसके नाम से प्रतीत होता है इसमें शिव और शक्ति के अभेद का प्रतिपादन करते हुए अभिनवगुप्त ने उनकी स्तुति की है ।

इस प्रकार अभिनवगुप्त के द्वारा रचित और प्रकाशित-अप्रकाशित छत्तीस ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय प्रदर्शित किया गया । उनके अवशिष्ट छह ग्रन्थ ऐसे हैं जिनका उनके ग्रन्थों के रूप में आधुनिक सूचीपत्रों में वर्णन प्राप्त होता है।

सूचीपत्रों में अभिनवगुप्त के वर्णित ग्रन्थ

३७. बिम्बप्रतिबिम्बवाद—इस ग्रन्थ का वर्णन डॉ. ह्वूलर के काश्मीर कैटलाग तथा डॉ. आर. जी. भण्डारकर के सङ्कलित ग्रन्थों की सूची में प्राप्त

होता है । इसकी प्रति भी प्राप्त होती हैं । इसका अध्ययन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है बल्कि तन्त्रालोक के तीसरे आह्निक में न्याय दर्शन के सिद्धान्त के खण्डन में 'बिम्बप्रतिबिम्बवाद' नामक सिद्धान्त का खण्डन किया गया है । उसी को किसी विद्वान् ने 'पाण्डुलिपि' के रूप में तैयार कर दिया है ।

३८. अनुत्तरतत्त्वविमर्शिनीवृत्ति—तञ्जौर के पुस्तकालय में इसकी दो प्रतियाँ मिलती हैं । उनके देखने से प्रतीत होता है कि यह 'परात्रिंशिका' के ऊपर अभिनवगुप्त द्वारा लिखी गई संक्षिप्त वृत्ति है ।

इन ३८ कृतियों के अतिरिक्त ३९. 'नाट्यालोचन', ४०. 'परमार्थसंग्रह' और ४१. अनुत्तरशतक का भी अभिनवगुप्त के ग्रन्थों के रूप में नवीन सूचीपत्रों में उल्लेख पाया जाता है किन्तु वे अभिनवगुप्त के ही ग्रन्थ हैं इस बात को निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है ।

अभिनवगुप्त के जिन ४१ ग्रन्थों या रचनाओं का विवरण ऊपर दिया गया है उनको हम विषय की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—१. दर्शनिक, २. साहित्यिक तथा ३. तान्त्रिक ।

उनकी रचनाओं का सबसे बड़ा भाग तान्त्रिक सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखता है । दार्शनिक साहित्य में उनके मुख्यतः तीन ग्रन्थ आते हैं । इनमें से दो प्रत्यभिज्ञादर्शन के सम्बन्ध में लिखे गए हैं और एक गीता के सम्बन्ध में । 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' और 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी' ये दोनों प्रत्यभिज्ञा-दर्शन से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थ हैं और 'भगवद्गीतार्थसंग्रह' गीता से सम्बन्ध रखने वाला ग्रन्थ है । इसको भी हम अभिनवगुप्त की दार्शनिक कृतियों में मान सकते हैं । उनकी रचनाओं का दूसरा भाग साहित्यशास्त्र से सम्बन्ध रखता है । इसमें 'ध्वन्यालोकलोचन' तथा 'अभिनवभारती' ये दो मुख्य ग्रन्थ आते हैं । 'घटखर्परविवरण' को भी कथञ्चित् इस वर्ग में सम्मिलित किया जा सकता है । अभिनवगुप्त की शेष प्रायः ३४ रचनाएँ तन्त्रशास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाली रचनाएँ हैं ।

अभिनवगुप्त की लेखन अवस्था

आचार्य अभिनवगुप्त के एक शिष्य मधुराज योगी ने चार श्लोकों वाले 'ध्यानश्लोक'[१] में अपने गुरु की लेखनावस्था का पूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है । यह लेखनचित्र स्वयं में इतना परिपूर्ण और विशद है कि एक कलाकार इसमें उपयुक्त रङ्ग भरने के योग्य हो सकता है । मधुराज योगी का वर्णन इस प्रकार

१. ध्यानश्लोक, १-४

है—अभिनवगुप्त के रूप में देदीप्यमान देवता दक्षिणामूर्ति, जो श्रीकण्ठ के अवतार हैं और कश्मीर आये हुए हैं, हमारी रक्षा करें । आध्यात्मिक आनन्द से युक्त उनकी आँखें घूम रही हैं । उनके मस्तक के बीच में भस्म की तीन रेखायें स्पष्ट रूप से प्रतीत हो रही हैं । उनके कान रुद्राक्षों के कारण सुन्दर लग रहे हैं । उनके शिर के लम्बे और सुन्दर बाल फूलों की माला से बँधे हुए हैं । उनकी दाढ़ी लम्बी है तथा शरीर से गुलाबी रङ्ग की आभा निकल रही है । उनका गला कर्पूर, कस्तूरी, चन्दन और क्रोकस नामक पुष्प के चूर्ण द्वारा तैयार किये गये लेप से पुते होने के कारण श्याम वर्ण लिए हुए अत्यन्त सुन्दर प्रतीत हो रहा है । उनके शरीर में बाँयी ओर लम्बा और पवित्र यज्ञोपवीत लटक रहा है । वे चन्द्रमा की किरणों के समान रेशमी वस्त्र धारण किये हुए हैं और वीर[१] नामक यौगिक मुद्रा में स्वर्णनिर्मित सिंहासन पर बिछाये गये कोमल मखमली बिछौने पर बैठे हुए हैं । अङ्गूर के बगीचे के मध्य में वे आध्यात्मिक शक्ति रखनेवाले महिला और पुरुष सन्यासियों से घिरे हुए हैं । उनके सम्मुख उनके सभी साधक शिष्य बैठे हुए हैं । क्षेमराज उनके चरणों के पास अत्यन्त एकाग्रमन से बैठकर उनके द्वारा कही गयी सम्पूर्ण बातों को लिख रहे हैं । उनके दाहिने और बाँयें दो महिला दूतियाँ खड़ी हैं । दोनों पात्र (जार) लिये हुए हैं । दोनों दूतियों के दाहिने हाथ में, जार तीन रात्रि तक पानी में भिगोये अन्न को छानने के बाद अवशिष्ट जल[२] से भरा है और ताम्बूल से परिपूर्ण पानदान है । दोनों के बाँयें हाथ में एक सिट्रा (मौसम्बी) का फल और एक कमल का फूल है । आचार्य अभिनवगुप्त अपने दाहिने हाथ में एक रुद्राक्ष की माला धारण किये हुए हैं जो उनके जंघे का स्पर्श कर रही है । उनकी अङ्गुलियाँ परमसत्ता को पकड़ लेने की साङ्केतिक मुद्रा में हैं । वे अपने वाम कमलहस्त के नख के अग्रभाग से वीणावादन कर रहे हैं जो सङ्गीत की मूलध्वनि नाद[३] को उत्पन्न करने में सक्षम है ।

अभिनवगुप्त की अन्तिम जीवन-लीला

अभिनवगुप्त का सम्पूर्ण जीवन साधनापूर्ण और धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत था । वे तान्त्रिक साधना के महान् साधक थे । विशाल आगमशास्त्रों का जितना गम्भीर चिन्तन और विवचेन किया उतना ही उन सिद्धान्तों को उन्होंने अपने जीवन में उतारने का सफल प्रयत्न भी किया था । अतः उनका सम्पूर्ण जीवन ही तन्त्र की साधनाओं का मूर्तरूप बन चुका था । अभिनवगुप्त

---

१. एस.सी.वोल्यूम-४, ४१२

२. एस.सी. ५६८, तन्त्रालोक, आह० २१, श्लोक ११-१३

३. एस. सी. १३७२

के इस प्रकार के महान् आदर्श और अद्भुत जीवन का अन्त अन्य मनुष्यों की तरह स्वाभाविक भला कैसे हो सकता था? उनके जीवन का पटाक्षेप भी वैसा ही महान् और आश्चर्यजनक था । भारतवर्ष के कश्मीर में श्रीनगर और गुलमर्ग के मध्य 'मगम' नामक एक स्थान है । इस स्थान से लगभग पाँच मील दूर 'भैरव कन्दरा' नामक गुफा आज भी विद्यमान है । इस गुफा के समीप एक 'भैरव' नामक छोटा सा गाँव है और इसी गाँव के समीप ही भैरव नामक छोटी सी नदी बहती है । प्रयाग के गङ्गा, जमुना, सरस्वती नदियों के द्वारा सङ्गम निर्माण के समान भैरव गाँव, भैरव गुफा और भैरव नदी तीनों ने एक स्थान पर मिलकर सङ्गमरूप इस स्थल को भैरव के उपासकों के लिए विशिष्ट आकर्षण का पवित्र केन्द्र बना दिया है । इसलिए भैरवावतार अभिनवगुप्त ने अपने जीवन के अन्तिम समय को इसी पवित्र स्थल पर व्यतीत करने का दृढ़ निश्चय किया और यहीं पर आकर साधना करना प्रारम्भ कर दिया । साधना के लिए भैरव गुफा उन्हें सर्वाधिक प्रिय थी । इस गुफा का प्रवेश द्वार इतना बड़ा है कि लगभग पचास व्यक्ति इसमें एक साथ बैठकर शान्तचित्त से अपनी साधना कर सकते हैं । इसके अतिरिक्त इसमें और भी अनेकों स्थान हैं । इसमें एक-दो व्यक्तियों के बैठने और एकान्त तथा शान्त तपश्चर्या के योग्य तो सैकड़ों स्थान विद्यमान हैं ।

कश्मीर के पण्डितों में इस प्रकार की प्रसिद्धि है अभिनवगुप्त अपने बारह सौ शिष्यों के साथ इस गुफा में प्रविष्ट हुए और पुनः कभी वापस नहीं आये। इस विषय में यद्यपि कोई लिखित प्रमाण प्राप्त नहीं होता है । यह सम्भव हो सकता है कि बारह सौ शिष्य उनके साथ गुफा में प्रविष्ट न हुए हों और अपने अत्यन्त प्रिय एवं महान् योगी को अन्तिम विदाई देने आये रहे हों परन्तु इस बात में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि अभिनवगुप्त ने इसी गुफा में अपनी अन्तिम समाधि नहीं ली थी । यह अन्वेषण का विषय है । इस प्रकार भैरवावतार अभिनवगुप्त की महान् और आश्चर्यजनक उत्पत्ति और ज्ञान-साधनादि के समान ही उनके जीवन का अंत भी महान् और आश्चर्यजनक था और ऐसा होना भी चाहिए था और हुआ भी वैसा ही ।

...๑ஃ๑...

Introduction

A Brief Outline History of the Stotras

'स्तोत्रं कस्य न तुष्टये'

'Stotraṁ kasya na tuṣṭaye' according to this statment of the great Poet Kālidāsa, there is no such creature in this world who does not please by his praise. It is also stated in the political books that the being, fearful demon etc. also begin to favour because of Sāma or stuti (praise). Therefore, among the Daṇḍa, Bheda and Dāma etc. manners, sāma or stuti is considered the excellent. Because of this Veda, histories, Purāṇas and the Kāvyas are full of sūktas and stotras. The scholars unanimously accept that Veda is the main source of all true knowledge and every mode of Sanskrit Vāṅmaya. Five primary elements viz the earth, the water, the fire, the sky and the air have been praised many times in the form of sūktas. Agnisūkta, Savitṛsūkta, Varuṇa and Marut etc. sūktas are the burning evidence to this statement. In the post Vaidic period, symbolic natural powers praised in the Vedas in the form of five primary elements, were given figurative form. The word stotra is derived from the root—stu and suffix strun. Hence the meaning is to praise, eulogy, commendation, a hymn of praise, ponegyric.

'Ādityahṛdaya stotra' is the first stotra of (laukika) wordly Sanskrit literature described in the Rāmāyaṇa, the first Mahākāvya composed by the first great poet and the great sage Vālmīki of Laukika Sanskrit, in which Āditya is praised by different names. 'Gaṅgāṣṭakam' stotra in the praise of Goddess Gaṅgā written by sage Vālmīki and the 'Śivatāṇḍava stotra' of the great Paṇḍita Rāvaṇa, contemporary of Lord Rāma, are the most ancient stotras available in Laukika Sanskrit. Just after the Rāmāyaṇa, the Mahābhārata comes in order which is the

second great historical poetry, in which the 'Śrīviṣṇoraṣṭāviṁśatināma stotra' contains description of Lord Viṣṇu's twenty eight names in the dailogue form between Arjuna and Śrī Kṛṣṇa. In the same period another stotra (hymns of priase) namely the 'Śrīviśvanāthāṣṭakam' composed by sage Vyāsa as well as the Mahābhārata and many other Purāṇās. In the same time, in the Bhagavadgītā another stotra viz. 'Sapta Ślokīgīta' is available in the dailogue form between Śrīkṛṣṇa and Arjuna referred to 'Brahmavidyā' Hymns of praise of Lord Viṣṇu by Dhruva in the fourth skandha of ninth chapter of 'Śrīmadbhāgavata Purāṇa' and the praise of the same God by Prahlāda in the seventh skandha of ninth chapter, are also important. The 'Catusślokī Bhāgavata' in the second skandha of ninth chapter referred to Bhagavad-Brahma dailogue and another stotra viz. 'Bhagavatstutiḥ' done by Bhīṣma in the praise of Śrī Kṛṣṇa are the older stotras. In the Araṇya Kāṇḍa of the Adhyātmarāmāyaṇa done by saint Jaṭāyu and in the thirteenth chapter of Yuddhakāṇḍa, praise done by Brahmadeva in the admiration of Rāma are also significant.

The great scholar of the 8th century A.d, God Śaṅkara incarnate, and founder of the Monistic Vedānta philosophy, Śaṅkarācārya has composed many stotras in the praise of different Gods and Goddesses which are fortunately available. The stotras of Ācārya Śaṅkara and many other can be seen in the list coming further. Besides the above stated stotras there are many other in the praise of different Gods and Godesses composed by different scholars namely the Rāmānandācārya, Tulasīdāsa, Yāmunācārya, Brahmānanda swāmin etc. can be seen in the list. The collection of all the stotras is very difficult for us to mention here. Some importatnt stotras and their writers are given below :—

(A) Vinayastotras

Ṣaṭpadī—Śaṅkarācārya

Śrī Hariśaraṇāṣṭakam—Śrī Brahmānanda Swāmī

Nyāsadaśakam—Śrī Veṅkaṭa Nātha

Parameśvarastotram—(?)

(B) Śiva Stotras

Śiva Mānasa Pūjā—Śaṅkarācārya
Śrī Śivāparādhakṣamāpanastotram—Śaṅkarācārya
Vedasāraśivastavaḥ—Śaṅkarācārya
Śivāṣṭakam—Śaṅkarācārya
Śrīśivapañcākṣarastotram—Śaṅkarācārya
Śivatāṇḍavastotram—Rāvaṇa
Śrīrudrāṣṭakam—Tulasīdāsa
Śrīpaśupatyaṣṭakam—Pṛthvīpati Sūri

(C) Śakti Stotras

Lalitāpañcakam—Śaṅkarācārya
Mīnākṣīpañcaratnam—Śaṅkarācārya
Devyāparādhakṣamāpanastotra—Śaṅkarācārya
Bhavānyaṣṭakam—Śaṅkarācārya
Ānandalaharī—Śaṅkarācārya
Mahālakṣmyaṣṭakam—Śaṅkarācārya
Śrī Sarasvatīstotram—Indra

(D) Viṣṇu Stotras

Śrī Nārāyaṇāṣṭakam—Śrī Kureśa Swāmī
Śrī Kamalāpatyaṣṭakam—Brahmānanda Swāmī
Parameśvara Stuti Sārastotram—Brahmānanda Swāmī
Maṅgalagītam—Jayadeva
Daśāvatārastotram—Jayadeva
Śrī Lakṣmī Nṛsiṁhastotram—Śaṅkarācārya

(E) Rāma stotrāṇi

Śrī Rāmarakṣāstotram—Śrī Budha Kauśika Ṛisi
Śrī Rāmāṣṭakam—Brahmānanda Swāmī
Śrī Sītārāmāṣṭakam—Śrī Acyuta Yatī
Śrī Rāmacandrastutiḥ—Tulasīdāsa
Śrī Rāma Maṅgalaśāsanam—Śrī Varavaramuni
Śrī Rāma Premāṣṭakam—Yāmunācārya
Śrī Rāmacandrāṣṭakam—Śrī Amaradāsa Kavi

(F) **Śrī Kṛṣṇa Stotras**

Śrī Govindāṣṭakam—Brahmānanda Swāmī
Śrī Govindāṣṭakam—Śaṅkarācārya
Acyutāṣṭakam—Śaṅkarācārya
Śrī Kṛṣṇāṣṭakam—Śaṅkarācārya
Govindadāmodarastotram—Śrī Bilvamaṅgalācārya
Madhurāṣṭakam—Śrī Mahāprabhu Ballabhācārya
Śrī Nandakumārāṣṭakam—Śrī Mahāprabhu Ballabhācārya
Catuśślokī—Śrī Viṭṭhaleśvara

(G) **Different Stotras**

Saṅkaṭanāśanagaṇeśastotram—Nāradamuni, Nāradapurāṇa
Sūryāṣṭakam—Said by Lord Śiva
Śrī Sūryamaṇḍalāṣṭakam—Āditya Hṛdayastotra
Śrī Gaṅgāṣṭakam—Śaṅkarācārya
Śrī Yamunāṣṭakam—Śaṅkarācārya

(H) **Other Scattered stotras**

Parabrahmṇaḥ—Śaṅkarācārya
Śrī Viṣṇoḥ—Śaṅkarācārya
Śrī Rāmasya—Śaṅkarācārya
Śrī Śivasya—Śaṅkarācārya
Śrī Devyāḥ—Śaṅkarācārya
Śrī Gaṇeśasya—Śaṅkarācārya
Śrī Sūryasya—Śaṅkarācārya
Śrī Bhagavadbhaktānām—Śaṅkarācārya
Sādhanāpañcakam—Śaṅkarācārya
Dhanyāṣṭakam—Śaṅkarācārya
Parāpūjā—Śaṅkarācārya
Carpaṭapañjarikāstotram—Śaṅkarācārya
Dvadaśapañjarikāstotram—Śaṅkarācārya

Śivarāmāṣṭakastotram—Rāmānanda Swāmī
Kaivalyāṣṭakam—Kaivalyaśataka
Gaurīśāṣṭakam—Śrī Cintāmaṇī
Saptaślokī Gītā—Śrī Madbhagavadgītā
Catuśślokī Bhāgavatam—Śrīmadbhāgavata Purāṇa 2|9|31-37
Śrīmṛtyuñjayastotram—Padmapurāṇa

There are many more other stotras but the collection of all is very difficult.

The Stotras of Abhinavaguptapādācārya

The Stotras in the praise of Śiva and Śakti created by the great scholar Abhinavaguptapādācārya born in the second half of the 10th century A.D. after Śaṅkarācārya, are available which are translated in Hindi and English in this present edition. Those are ten in numbers. Therefore to give the names of those stotras will be only repetition. His stotras being full of loyal devotion are also philosophic. These hymns of praise include different technical words and principles of Kāśmīra Śaiva philosophy. The universe knowable by sense organs indifferent to the Highest Reality is stated in these stotras. Mere this Highest Reality is Anuttara, Paramārtha, Prapañcottīrṇa (beyond of expansion) and Viśvamūrtisvarūpa (in the form of omnipresent). According to these hymns of praise (stotras) the realisation of that Highest Reality (or supreme consciousness) is the only means of salvation. This line of Anuttarāṣṭikā 'संसारोऽस्ति न तत्त्वतः तनुभृतां बन्धस्य वार्त्तैव का' *('saṁsāroasti na tattvataḥ tanubhṛtāṁ bandhasya vārtaiva kā')* is quoted by Jayaratha in his commentary on the Tantrāloka (3|99). Some lines used by Vedāntins are found quite same as 'मिथ्यामोह कृदेष रज्जुभुजगच्छायापिशाचभ्रमो' *('Mithyāmoha kṛdeṣa rajjubhujaga-cchāyāpiśācabhramo')*. But it does not mean that there is any resemblance of Trika philosophy with the Vedānta about the world. The Ābhāsavada of Trika philosophy and the Vivartavāda of the Vedāntins are quite different theories with each other. The Stotra viz. 'Paramārthadvādaśikā' is known by

another name also viz. 'Advayadvādaśikā' because this line of its second verse 'यद्यततत्त्वपरिचारपूर्वकं तत्त्वमेसितदतत्त्वमेव हि' (*'Yadyatatattvaparicārapūrvakam tattvamesitadatattvameva hi'*) quoted by Ramādvyācārya in his commentary on the 'Bhāvopahāra' of Cakrapāṇini with the introductory remark—'अद्वयद्वादशिकायामपि' (*'Advayadvādaśikāyāmapi'*).

As regards the Stotras, about the first two, viz., the Krama and the Bhairava, we have already spoken in discussing the date of Abhinavagupta. Here it may be added in connection with the latter that in old Paṇḍita families of Kāśmīra there is still current a tradition which says that Abhinava, while entering the Bhairava cave for his last Samādhi, was reciting this Stotra.

In the 'Dehasthadevatācakrastotra' Abhinava shows that the attendant deites of Śiva, mentioned in the Purāṇas, are found associated with him even when he is in the body as a limited self 'शिव एव गृहीतपशुभावः' (*Śiva eva gṛhītapaśubhāvaḥ*). Though in the latter case their names and forms are different yet their functions are the same. For instance, in the Purāṇas he is said to have got two door-keepers, Gaṇeśa and Baṭuka. They accompany him even when he assumes limitations as an individual (Paśupramātā) to guard two of the nine doors of the body. Of course, in this case, they are called Prāṇa and Apāna. Jayaratha echoes this very idea when in his commentary on the Tantrākloka, I, 6, he says the following with regard to Gaṇeśa and Baṭuka—

'अस्य हि प्राणव्याप्तिरस्ति इत्येवं निर्दिशन्ती गुरवः' (*'Asya hi prāṇavyāptirasti ityevaṁ nirdiśantī guravaḥ'*) and

'वस्तुतो हि अपानव्याप्तिरस्यास्ति इत्येवं निर्देशः' (*'Vastuto hi apānavyāptirasyāsti ityevaṁ nirdeśaḥ'*) respectively.

Rahasyapañcadaśikā

The last line of this work says that these fifteen verses were written by Abhinavagupta and the title also refers to number fifteen. The work, therefore, should consist of fifteen verses only. But the manuscript before us contains thirty seven verses.

This makes one doubt the authorship of it. Though in some of his other works also the number of verses actually found is more than there should be, according to his own statement. For instance, the Paramārthasāra contains 105 verses, though his statement at the conclusion of the work is 'In hundred Āryā verses. I have summarised the essential principles of the Trika system' and the Bodhapañcadaśikā consists of sixteen verses, though according to the title there should be fifteen only yet the additional verses, found in these works, admit of explanation but in the present work the number of additional verses is so large, being more than twice the number that there should be according to the author's own statement, one is compelled to think that either it is not a genuine work of Abhinavagupta or that so many verses have been interpolated in it that it is difficult to distinguish the original verses from the interpolated.

It is primarily concerned with the presentation of Parā in inseparable union with Śiva or Parama Śiva under the influence of the religious mythical conception of Śiva and Pārvatī. It speaks of Parā as both Lakṣmī and Sarasvatī, representing her in the characteristic features of the two deiteis as conceived in the Purāṇas. It refers to her powers as known in the Vedas. It mixes up the philosophical conception of Parā with the mythical conception of Pārvatī, Lakṣmī, Sarasvatī etc. very often it repeats the same idea and the same word. No reference to this work has been traced so far.

Thus we see that the stotras (hymns of praise) full of loyal devotion available till now, the feelings of devotee, the elements and theories of Kāśmīra Śaiva philosophy are stated together, in the stotras composed by Abhinavagupta comparatively. Abhinavagupta having poured the colours on the Paurāṇika and religious thoughts of the philosophic thoughts in his stotras, has made them unusual and heartiness.

...❦...

The Life Description of Stotra-composer, Abhinavagupta

(1) The Concept of Two Abhinavaguptas

Ācārya Abhinavagupta, the stotra-writer is a different Ācārya from his namesake who was a Śākta Ācārya in the time of Śaṅkarācārya, the founder of monistic Vedānta school. 'Śāṅkaradigvijaya' of Ācārya Mādhava is the only one source of information about the other Abhinavagupta, which is described by a slight different name 'Sūkṣmaśaṅkara-vijaya' in the catalogue of Dr. Aufrecht. It gives the following account of him.

He[1] was the resident of Kāmarūpa (Assam). He was śākta school follower and wrote a śāktabhāṣya, which, probably is a commentory on the Vedānta-sūtra of Bādarāyaṇa to the śākta point of view. He was a great opponent of the monistic theory of Śaṅkarācārya. A controversial discussion (śāstrārtha) took place between the Śākta Ācārya and Śaṅkarācārya when the later went to Assam in the course of his victory (Digvijaya). In that 'Śāstrārtha' he got defeat and so, in accordance with the then current practice accepted the desciplehood of the victor. Like the Abhinavagupta of Kāśmīra, his Śākta namesake also is referred to as an Ācārya.[2]

Our purpose in giving the above account is to point out that if Mādhava's testimony regarding the śākta Abhinavagupta is to be considered true, he must not be confused with Kāśmīrī Abhinavagupta of śaiva school. A gap of two centuries lies between them. The first, if he was a contemporary of Śaṅkarācārya, must have lived in last quarter of the eighth century and the first half of the ninth century A.D. because, in accordance with the generally admitted thought, Śaṅkarācārya lived from 788 to 820 A.D. and the second, on the proof of the

---

1-2. S.D. Ch. Xv. S-158

dates of the creation of the Krama and the Bhairava stotras and the Bṛhatīvimarśinī, given by the composer himself, belonged to the second half of the tenth century A.D. In the light of these facts we are unable to understand why Dr. Aufrecht has included the Śāktabhāṣya in the list of Kāśmīrīan Abhinavagupta's works in his Catalogue Catalogorum. In accordance with his own statement, this work 'Śāktabhāṣya quoted by Mādhava Oxf 2586' (C.C., p. 25) is not other than the one, the authorship of which is attributed to the Abhinavagupta of Śākta school by Mādhava. The passage on which our own account of the Abhinavagupta of the Śākta traditon is based, goes as follows—

तदनन्तरमेष कामरूपान् ।
अधिगत्याभिनवोपशब्दगुप्तम् ॥
अजयत् किल शाक्तभाष्यकारम् ।
स च भग्नो मनसेदमालुलोचे ॥

–Oxf., 258 b.

The Ancestors of Abhinavagupta

As far as we have come to know about the earliest ancestor of Abhinavagupta, was Atrigupta. He was a resident of Antarvedī[1], the region between the Gaṅgā and the Yamunā, in the empire of King Yaśovarmana of Kannauja (circa 730-740 A.D.)[2]. He got a great glory in all branches of learning in general and in the śaiva scriptures in special. The king of Kāśmīra namely the Lalitāditya (725-761 A.D.) was so much influenced with his scholarship and so eager did he become to take Atrigupta to his kingdom that soon after the victory over the king Yaśovarmana he approached and did a humble request to Atrigupta to go with him to Kāśmīra. This request was so earnest that Atrigupta could not be able to refuse it and he went to Kāśmīra with him.[3]

After about two hundred years the family was to produce Abhinavagupta, the finest brain, migrated from Kannauja to

1. P.T.V., 280
2. E.H.T., 386
3. T.A.XII, 404-5

Kāśmīra. There, in Kāśmīra soon a big residence was constructed by the order of King Lalitāditya on a place just oposite to the temple of Śītāṁśumaulina on the bank of river Vitastā for migrant family to reside permanently and a big Jāgīra was granted for the proper maintenance of the migrated family. For about one and half century we know nothing at all about the family after Atrigupta. Abhinavagupta has evidently left a gap between his earliest known ancestor who migrated to Kāśmīra from Kannauja and his grand father Vārāhagupta, whom we can't place prior than the starting of the tenth on which our inference is based, leaves a very little doubt at this point. For the inference of the gap of time between Atrigupta and Vārāhagupta the word 'Anvaya' family[1] is used. We find the word 'Ātmaja' used just in marked contrast to it, to show the immediate descent of the Abhinava's father Cukhulaka from Vārāhagupta. It is proved from the very brief description of the Vārāhagupta that the coming generation had preserved the scholastic traditions of the scholarly known family and that Vārāhagupta was too a great shcolar and devoted to Lord Śiva.

Abhinava's Parents

Narasiṁhagupta, the father of Abhinava also called Cukhulaka was a great intellectual power and had equal proficiency in all branches of learning and a great worshiper of Lord Śiva too. His mother's name was Vimalākalā[2]. Both of them were a pleased couple and did the duties of house very well, not because of any worldly attraction but simply because they were enjoined by Tāntric scripture. His mother was very pious, sincere to religion. And so, the atmosphere of the family was completely religious and full of scholarship.

In the light of above mentioned paragraph and supported by the stotra composer himself, the statement of Pt. M. Kaula Śāstrī of Kāśmīra Research Department in his introduction to 'Īśwara Pratyabhijñāvimarśinī' vol. II page 7 regarding the name of Abhinavagupta's father needs correction. Kaula's statement is as follows—

---

1. Ibid
2. T.A. comm., I. 14

"He received instruction in the Pratyabhijñā Śāstra from his father Lakṣmaṇagupta, son of Narasiṁhagupta and pupil to Utpala."

Beyond doubt, Lakṣmaṇagupta, a teacher of Abhinavagupta of the Pratyabhijñā Philosophy was surely not his father and also there was no relationship of father and son between the Narasiṁhagupta and Lakṣmaṇagupta. According to the following statement of Abhinavagupta, Ācārya Utpala was the father of Lakṣmaṇagupta–

'त्र्यम्बक प्रसारसागरवीचिसोमानन्दात्मोत्पलजलक्ष्मणगुप्तनाथः ।'

—तन्त्रालोक, 12, 414

His Time

The authors of Kāśmīra used an era in their works known as 'Saptarṣi' which started twenty five years later the commencement of the Kali era as we know from the 'Bṛhatī Vimarśinī' authored by Abhinavagupta himself. He, in the concluding verses of this work states as–

इति नवतितमेऽस्मिन् वत्सरान्त्ये युगांशे
तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने ।
जगति विहितबोधां ईश्वरप्रत्यभिज्ञां
व्यवृणुत परिपूर्णा प्रेरितः शम्भुपादैः ॥

According to the above verse after the elapse of 4115 years of Kali Abhinava completed 'Bṛhatī Vimarśinī' in the nintieth year. This year 1959 is the 5060 year of Kali and 5035th year of the Saptarṣi era as any almanac will show. If we reduce twenty five out of the figures, which stand for the Kali era at present, then the saptarṣi era will come out. It means that the word 'Navatitame' quoted in the above verse stands for 4090th of the saptarṣi era. As 59 of today is simply mean 1059 A.D.

In the other two short works of Abhinavagupta which are the stotras, where in the times of composition of these works are stated. The first work is 'Bhairavastavaḥ' which was authored on the tenth day of the darker half of the 'Pauṣa' in the sixtieth year and the second is 'Kramastotra' which was written in the praise of Lord Śiva on the ninth day of darker half of the 'Mārgaśīrṣa' in the sixty sixth year.

The years of authoring of the above mentioned two stotras indicate the Saptarṣi era. So, the dates of the first and the last works of Abhinavagupta simply indicate that the time of his activity in literature extended over a one fourth of hundred years from 4066 to 4090 of the Saptarṣi era which simply means 990-91 to 1014-15 A.D.

Thus the fact is that no cause lies in reliance that the Krama stotra, though the earliest of the known dated works of Abhinava, was his first work. So it seems that Abhinava started his career in literature five years prior, about in 985 A.D. and taking into consideration the vast and wide study that he received in the different schools of learning, not privately but in the homes of so many learned teachers and the maturity of style and decesion found in his primary works, it will be quite wrong and beyond of reason to accept that he started authoring when he was in his teenage or early twenties. So it will not be wrong at all to accept that he was born between 955-970 A.D. Dr. K.C. Pandey accepts his birth time between 950-960 A.D.[1]

Abhinavagupta's Child-life

As a child Abhinava was admitted in a primary school (Pāṭhaśālā) situated very near of his house, just in a second story. There also showed signs of his future greatness and impressed his teachers very much by his extra ordinary mental power and fluency in speech. His name is ample testimony to that. It is to be noted here that the name Abhinavaguptapāda by which the greatest scholar of the world is known, is simply not that which he was named by his parents but that which he attained from his able teachers in primary school time for no other cause than that he was a super intellectual giant and as such was an object of fear, like a snake for his school friends. In accordance with the Vāmanācārya, the writer of the 'Bālabodhinī', a commentary on the 'Kāvyaprakāśa' of Mammaṭa, means to convey by referring to Abhinavagupta as 'Abhinavaguptapāda' in his work. Much true to this fact Abhinavagupta himself refers in the following line as—

---

1. Abhinavagupta–K. C. Pandey

'अभिनवगुप्तस्य कृतिः सेयं यस्योदिता गुरुभिराख्या ।'

—तन्त्रालोक, 1, 50

There, in south India a tradition is prevalent among those who perform dancing in strict accordance with the rules laid dwon by the Bharatamuni in the 'Nāṭyaśāstra' that the Abhinavaguptapāda was the 'Śeṣa-incarnate'. This tradition is the another explanation of the word 'Abhinavaguptapāda' This explanation, perhaps, is done by the high authorities that he received, like the Mahābhāṣyakāra Patañjali, because of his ful mastery in all of the intricacies of grammar and his super mental power and originality in explaining the tough grammatical questions. Because of his great proficiency in grammar, Abhinava himself states in the following line as—

'पित्रा स शब्दगहने कृतसम्प्रवेशः ।' —तन्त्रालोक, 12, 413

In the above mentioned line both of the words namely—the 'gahane' and the 'sam' are of the special importance. This tradition was ordinarily accepted by the new generations, because it was thought to have the support of his able teachers also who provided him nic-name, 'Abhinavagupta-pāda' which, without any doubt of contradiction can be explained as 'New Śeṣa', the second incarnation of the Śeṣa.

Able Teachers of Abhinavagupta

Great was his love of learning, endless and incessant was his indeavour for its aquisition, 'Knowledge for its own sake' was his motto. This he was taught by personal example on one hand and precept on the other, as stated in Tantrāloka VIII, 205-206. He gained that even although one may be fateful enough to receive a teacher who has gotten fulnesss himself and simply direct the path to this, to his pupil too, yet that is not enough cause for not going to the other teachers for the study Śaiva scriptures and other paths, this, he has opined as the only cause behind his waiting upon the teachers of the other religions as like Buddhism and Jainism.[1]

1. T.A. VII, 206

He met to the finest teachers of his period in many subjects for the traditional and the most authentic information. By his humbleness and devotion[1] he fully impressed his all teachers that they, because of great affection for him, taught him all mysteries of knowledge in their possession, and completely he learnd and preserved all that he was told and so well he impressed his teachers with his wide and vast study that all of his teachers declared him to be an all-round Ācārya.

So much indelible was his thirst for the knowledge that received all its the most prosperous personalities in valley of Kāśmīra not enough to satisfy it. So, he went out of the heaven of the earth of India as well as the land of Kaśyapa Ṛiṣi in search of a super scholar. Outside of his motherland, the Kāśmīra, how many places toured by him and how many capable and learned teachers he met, no proof regarding this is available to mention. But it is beyond doubt that he visited Jālandhara[2] a place of Pañjāba and learned the literature of Kula system and many Kaulic practices with Śambhunātha, the best teacher of Kula school of his time of course. This was the influence of Śambhunātha's teaching and the direction of Kaulic practices that he received perfect peace and self-realisation.[3]

The list of his different teachers of different subjects is as—

1. Narasiṁhagupta (his father) — Grammar.
2. Vāmananātha — Dvaita Tantras.
3. Bhūtirāja — Brahmavidyā.
4. Bhūtirājatanaya — Dualistic-cum-monistic-Śaivism.
5. Lakṣmaṇagupta — Krama and Trika Darśanas.
6. Indurāja — Dhvani.
7. Bhaṭṭa Tota — Dramaturgy.

The list of other teachers who taught Abhinava without their specified subjects is as follows—

8. Śrīcandra
9. Bhakti Vilāsa

---

1. T.A. 12, 415
2. T.A. comm-I, 236
3. T.A. comm-I, 31

10. Yogānanda
11. Candravara
12. Abhinanada
13. Śivabhakti
14. Vicitranātha
15. Dharma
16. Śiva
17. Vāmana
18. Udbhaṭa
19. Bhūtīśa
20. Bhāskara

From the above stated long list of his teachers we may understand that what a great thirst for the knowledge was in Abhinavagupta.

His Family Members and Some Event in is his Family

Except Abhinava's parents, his uncle Vāmanagupta, a yonger brother Manoratha and five cousins Kṣema, Utpala, Abhinava, Cakraka and Padmagupta were the members of his family. His uncle Vāmana was one of his teachers also whose name is included in the list of his teachers. According to the reference found in 'Abhinava Bhāratī', probably he has worked on the poetics. Manoratha, his brother was a highly learned scholar of all the scriptures and favouring him Abhinava admitted him his first pupil. If his causin Kṣema is to considered as Kṣemrāja, the composer of the 'Spandanirṇaya' and other books regarding Śaivism and the others, classed with him, be also accepted to have had more or less same qualities, his cousin brothers also seem to have been very well educated. What ever may be about their education and qualification but this is beyond doubt that they accepted devotion to the Lord Śiva above all the worldly things and all their wealth just like the grass. And so, the atmosphere of his family was fully spiritual and well educated. In such type of spiritual and educated environment Abhinava passed his childhood for the growth of a very healthy and allround brain and a spirit required for the most significant work that he had to complete.

He deeply loved his mother. She was the only person who made home-atmosphere full of sweetness for Abhinava. But unfortunately like other immortal creature of the world, or as Abhinava accepted it, fortunately she went in heaven while Abhinava was a mere child. So the most of its attachment in home for him ended, but not all because his father was still

alive. But soon after his mother's death, renouncing the world his father too became an ascetic while he was still young. Both of these insidents happened while he was engaged in study of literature. Those events changed his mind from all the worldly things to worship of Lord Śiva. And so he decided not to marry in whole of his life. Thus, the period of his literary activity and life in home came to an end. This was the great turning point of his life. From that time to satisfy his hunger for knowledge he began to reside in the houses of his teachers related to the Āgamas. And the result is that he wrote the 'Tantrāloka' which is an Encyclopedia of Tāntric literature.

Abhinava's Ascetic Life

Abhinavagupta was very much helped by the gifts of nature and supportable circumstances in fully preparing himself for the worldly known work that he was born to accomplish. The great and healthy learned and religious chain of his family, without gaping for over two centuries, the noble and highly educated life of his father and completely religious life of his mother, his excellent education, his great practice in defferent types of Tāntric practices his learning with so many scholars of various subjects in both of the places in and outside of Kāśmīra valley. His unending energy and untiring efforts and their fruiton in scholastic achievements and his great sacrifice of all the luxories of worldly life above all, all of them togetherly provided him such type of mental and spiritual power and made his pen so much storng that even now a days; he is considered the superme on nondualistic śaivism in both of the fields, its rituals and philosophies as well as on the principles of poetics of Rasa and Dhvani.

Preparing himself in such way he started his life's work at a enough mature age about his contribution to the Indian philosophic literature, though simply people know him only as commentator on the poetics, is not a result of short secluder place, as so many people think; but a record of personal experience[1], achived through several experiments of Yoga took

1. T.A. IV, 202

on for years. If we attentively study even some available works out of many others that his super strong pen produced, we can recognise the successive steps in his spiritual achievement.

Capably he worked on the schools of Śaiva philosphic literature namely the Krama, the Kula and the Trika. Pratyabhijñā philosophy is only a branch of the Trika.

When his mind all of a sudden changed to the worship of Lord Śiva from the literature studying, Lakṣmaṇagupta was the first teacher who intellectually satisfied him by intellectual closed in the form of an exposition of the Pratyabhijñā philosophy.[1] Krama phisolosphy was thaugth to Abhinava also by him. Jayaratha has stated this after a long controversial analysis in his Tantrāloka's Commentary[2]. There is enough proof to rely on that he, at first learned Krama philosophy. In any of the cases the earliest sole of the Krama stotra which has already been discussed in the earlier pages regarding the description of Abhinava's time, is a clear cut evidence of his having first attempted his spiritual experiments according to the guidance of Krama system. The attempt was not quite unsuccessful because in the 'Kramakeli' which is perhaps the first known work of Abhinava on the Krama philosophy, he accepts debtfulness to his spiritual greatness of that time to the teachings of Krama system.[3] But Abhinava was not fully satisfied of this result. And then he tried another school of Śaiva philosophy namely the Trika but the result was the same like to that of Krama system. At last he attained complete satisfaction and the supreme peace[4] through the teachings and several Yogic practices under the direction of his the best known teacher of Kaula philosophy the Śambhunātha of Jālandhara. He, because of this, has paid the most grand tribute to Śambhunātha in his works than among the many other.[5] Abhinavagupta has realised himself with All-Inclusive

1. M.V.V., 2
2. T.A. comm. III, 194
3. T.A. comm. III, 191-192
4. T.A. comm. I, 31
5. T.A. comm. I, 16

Universal Consciousness (Parama Śiva or Parama Caitanya) and that become possible only because of the teaching of Śambhunātha as he himself states in his introduction to the Tantrāloka in the following line—

'बोधान्यपाशविषनुत्तदुपासनोत्थाबोधोज्ज्वलोऽभिनवगुप्त इदं करोति ।'

–T.A.I., 16

The 'Paramārthasāra' and the commentary of Yogarāja on this, both of the works, describe in a very clear tone about the spiritual greatness of Abhinavagupta before he started composing his more significant books. The paragraph is as follows—

'अभिनवगुप्तेन मया शिवचरणस्मरणदीप्तेन ।'

—परमार्थसार, 198

'शिवस्य पराश्रेयः स्वभावस्य स्वात्मस्थस्य चिदानन्दैकमूर्तेः यानि चरणानि चिद्रश्मयः तेषां स्मरणं शब्दादिविषयग्रहणकाले निभालनं प्रतिक्षणं स्वानुभावाप्रमोषः तेन दीप्तः पराहन्ताचमत्कारभास्वरः.......इति उपदेष्टुः समाविष्ट महेश्वर-स्वभावोऽनेन उक्तः स्यात् ।'

It seems that the Paṇḍits of Kāśmīra have a traditional faith that Abhinavagupta was an incarnate of Bhairava.

Abhinavagupta's Miraculous Powers

The nature of human being is to be always the same all where. So we need not to astonised on the doubtful eyes through which the present sees at each claim to personal spiritual highness, specially because so many impostors are there outside the country now. Also in the period of Abhinavagupta the people didn't faith very simply in any such type of claim. So, this was not without any cause, as the tradition of literature tells, that the people relied on Abhinavagupta as the incarnation of Bhairava. Just as the people of present time attained enlightment would not accept the claim of some body to realisation of identity with the Almighty tell when he should show the almightyness of himself, so did not the people of Abhinavagupta's time. In accordance with the 'Śrīpūrva Śāstra', he himself has given five

accurate signs of such type of a person[1] which can be mentioned in brief as—

(1) Unswering worship to the Rudra
(2) Mantrasiddhi
(3) Controling power of all the things
(4) Capabilty to accomplish the wanted end
(5) Sudden dawning of the knowledge of all the books.

Thus, we come to know from Jayaratha whose statement is based upon the authority of his teacher whose śloka he takes in quotation, that the contemporaries of the Abhinavagupta received all of the above mentioned signs accurately existed in him. This was the mystery of the Abhinavagupta's grand effect with the peopole of his time and of the great success as a author in both of the fields, the Śaiva philosophy and the poetics equally.

Abhinavagupta, infact, worked under divine inspiration which seems to be referred by himself when he opines in 'Tantrāloka' that recalling to his mind the different books, about which he had studied with his very capable teachers, he authored the Tantrāloka[2]. It is to be noted here that he had no library to refer the books from which he so extensively quotes. The authorities referred, are so many and so correctly quoted that the reader is silent to consider that so vast and fully correct references without the assistance of any book or able subject related authority are out of the approach of human power and could be possible only because of the divine force.

His Pen-Style

A Abhinavagupta's desciple has described the pen-style of his teacher in his book 'Dhyānaślokaḥ'[3] which contains four ślokas. This pen-style is so extensively perfect that an artist may be capable to brush it with proper colours. This description is given in the starting of this book. The translation of this into English may be done as—

---

1. T.A. comm. III, 136
2. T.A. XII, 425
3. Dh.S. I-4

The splendid God Dakṣiṇāmūrtī in the Abhinava's form who is an incarnation of Śrīkaṇṭha and has come to Kāśmīra out of extreme sympathy, may defend us. His both of the eyes are rolling with supreme spiritual pleasure. Three lines are sketched of ashes (Bhasma) in the middle of his forehead. Because of the Rudrākṣa his ears are beautiful to look at. His exuberant hair is confided with a chaplet of flowers. His neck is black shining to look at because of besmearing the paste[1] prepared by the mixture of musk, sandal, comphor and saffron etc. His Yajñopavīta (the sacred thread) is long and loosing left. He has put on silken white cloth just like the moon's rays and is sitting in a Yogic posture known as Vīra[2], on a soft stuffed bag spread over a throne made of gold, adorned with a slender rope of pearls, in the specious main room of the house which was full of crystals, beautifully adorned with the paintings, scented very sweet because of the garlands and incense and lamps, scented with the sandal etc., permanently echoing with the vocal, instrumental music and dance, and thronged with male and female ascetics of acquainted spiritual power in the middle of vinery. All of his desciples attend him, Kṣemarāja is one of them, all of them are sitting with their fully concentrated minds in his lotus feet and are noting all that he utters. Two dūtīs (femal messengers) are stood individually in both of his sides, each of them having a jar full of water[3], trickled down in drops from the grain drenched for three nights, and a box full of betels in the right hand, a big lemon and a flower of lotus in the left. The rosary of Rudrākṣa put on in his right hand is touching his thigh and his fingers are in such a indicative position as to hold the Utimate Reality. He is playing upon Vīṇā which is fully capable in producing the original music sound, the Nāda by the nail's tip of the lotus left hand.

Liberation of Abhinava in His Life

In the time while he began to compose his book namely the 'Īśvarapratyabhijñāvivṛtivimarśinī' had become Jīvana-

1. A.K. ch. II, V, 133
2. S.C. Vol. IV, 412
3. S.C. 568, T.A. 29, 11-13

mukta (liberated in the life). He himself states in the starting of his above mentioned book that the present body is the last terrestrial existence. This truth seems to be very clear from his statements in various stotras composed by himself, where in he says to himself as Jīvanamukta. For example, in the tenth śloka and in the third śloka of 'Paramārtha Dvādaśikā' and 'Anubhavanivedana' respectively, as follows—

'शाक्तं धाम ममानुभवतः किन्नाम न भ्राजते ।'

The Works of Abhinavagupta

The powerful pen of Abhinavagupta produced a lot of books related to both of the fields, the śaiva philosophy and the poetics. His known books are listed as—

1. Bodha Pañcadaśikā.
2. Mālinī Vijaya Vārtika.
3. Parātriṁśikā Vivṛti.
4. Tantrāloka.
5. Tantrasāra.
6. Tantravaṭadhānikā.
7. Dhvanyāloka Locana.
8. Abhinava Bhāratī.
9. Bhagavadgītārtha Saṅgraha.
10. Paramārtha Sāra.
11. Īśvara Pratyabhijñā Vivṛti Vimarśinī.
12. Īśvara Prtyabhijñā Vimarśinī.
13. Paryanta Pañcāśikā.
14. Ghaṭakarparakulaka Vivṛti.
15. Krama Stotra.
16. Dehastha Devatā Cakra Stotra.
17. Bhairva Stotra.
18. Paramārtha Dvādaśikā.
19. Paramārtha Carcā.
20. Mahopadeśa Viṁśatikā.
21. Anuttarāṣṭikā.
22. Anubhavanivedana.
23. Rahasya Pañcadaśikā.
24. Pañcaślokī.
25. Tantroccaya.

26. Purūravo Vicāra.
27. Kramakeli.
28. Śivadṛṣṭyālocana.
29. Pūrva Pañcikā.
30. Padārthapraveśa Nirṇaya . Ṭīkā.
31. Prakīrṇaka Vivaraṇa.
32. Prakaraṇa Vivaraṇa.
33. Kāvyakautuka Vivaraṇa.
34. Kathāmukha Tilaka.
35. Laghvī Prakriyā.
36. Bhedavādavidāraṇa.
37. Devīstotra Vivaraṇa.
38. Tattvādhva Prakāśikā.
39. Śivaśaktyavinābhāva Stotra.
40. Bimbapratibimbavāda
    (Dr. Buhler's Catalogue MS No. 469).
41. Paramārtha Saṅgraha (Do. 459)
42. Anuttara Śataka.
43. Prakaraṇa Stotra.
44. Nāṭyālocana.

Introduction to the P.T.V., P. 15. It does not state any authority to substantiate the statement.

45. Anuttaratattvavimarśinī Vṛtti (T.C. MS. No. 8219).

The first fourteen books mentioned in the above list are Abhinava's published works. Those books are chronologically arranged. From the fifteenth to twenty fourth are the MSS and were safe in the hands of Late Dr. Kanti Chandra Pandey. From fifteenth to twenty third are the stotras which have been translated at first time in and abroad of India. Out of these, the works from twenty fifth to thirtyeighth are known quoted in the different available works which are in print or MSS. And the thirtyninth is found in the Kāśmīra catalogue of Dr. Buhler's. We know about the rest works of Abhinava only from the various catalogues and notices based upon the searches for the Sanskrit MSS.

It is sufficiently proved that Abhinava composed many other books besides the mentioned above. By the available references regarding those books we can attain the idea about

their titles and the subject matters as—

(A) He commented upon the other śaivāgamas besides to that of 'Śrīpūrva-śāstra' on the basis of Pūrva Pañcikā is fully proved from the following word of P.T.V., 147 as—

'पूर्वप्रभृतिपञ्चिकासु ।'

(B) About his commentaries on the other stotras than those translated in the soon coming pages of this book under the title 'Abhinavastotrāvaliḥ' he referes in his book 'Tantrasāra' page 31.

(C) The stotras from which he frequently cites in the foundable works with a priliminary remark 'Mayaiva stotre' but the many more citations are not traceable in any of the above stated stotras. Thus we may conclusively say that some other stotras were too composed by him.

(D) He also wrote a commentary on the 'Yogavāśiṣṭha'. But to this commentary we have no other source to get information than that a tradition prevalent among the Paṇḍits of Kāśmīra.

Three more works of Abhinava are included in the list of his seventeen works in the Catalogus Catalogorum which are as—

(1) Parmārthasāra Saṅgraha–Report, XXX
(2) Paramārthasāra Ṭīkā-oudh, 1x 22
(3) Spanda-oudh XVI, 124

The first book out of three mentioned above is not different from 'Parmārthasāra'. This is the same book and is published by the Kāśmīra research deptt. It contains both of the titles. Abhinava names it only 'Paramārthasāra' but Yogarāja adds the word 'Saṅgraha' to it too in his commentary. There are two instances in this ragard—

(1) 'इति श्री महामहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचितः परमार्थसारः ।'

(2) 'सम्पूर्णेयम् परमार्थसारसंग्रहविवृतिः कृतिस्तत्रभवेत् परम-माहेश्वर श्रीराजानकयोगराजस्य ।'

Therefore, it is impossible for us to pronounce any idea on the other two books which are included in the list of Kāśmīra

Catalogue on the prior authority, though individually we are compeled to think that the 'Paramārthasāra Ṭīkā is the similar book as the 'Parmārthasārasaṅgrahavivṛti'.

A General Opinion about his Books Found in References

(1) Purūravovicāra—We so far, have come to know about this book from a quotation and reference to it, is his commentary on the 'Ghaṭakarpara Kulaka' of the ever born poet and dramatist, Kālidāsa. As it seems from the title of this that it was related to the literary criticism of the heroic character of the 'Vikramorvaśīyam' drama of the Kālidāsa. Abhinava protects to Kālidāsa in this against the unfortunate critical observations of the above stated drama. He has strictly justified the freedom of a poet herein and which is very clear form his comments upon this, as follows—

यदुक्तं मयैव पुरुरवोविचारे—

न वै दोषा दोषा न च खलु गुणा एव च गुणाः निबद्धः स्वातन्त्र्यं सपदि गुणदोषान् विभाजते ॥

इयं सा वैदग्धी प्रकृतिमधुरा तस्य सुकवेः यदत्रोत्पादादप्यतिसुभग-भावः परिणतः ॥

(2) Kramakeli—Abhinava's this work is a commentary upon the Kramastotra. It is negotiable here that this 'Krama stotra' is quite different to the Krama stotra composed by Abhinava and which is translated in Hindi and English here in this book under the title 'Abhinavastotrāvaliḥ'. This is a work concerned with Krama system of Kāśmīra śaiva philosophy. It is many times cited by Maheśvarānanda in his 'Parimala' commentary, upon the 'Mahārthamañjarī'. Abhinava states this in his 'Parātriṁśikā vivaraṇa' as—

'व्याख्यातं चैतत् मया तट्टीकायां क्रमकेलौ विस्तरतः ।'

(3) Śivadṛṣṭyālocana—'Śivadṛṣṭi' is the most significant work upon the Trika school of Kāśmīra Śaiva philosophy authored by Ācārya Somānanda, the great and grand teacher of Abhinavagupta. The inference, from the name and the title the 'Ālocana' of Abhinavagupta, is a critical study of the original book, the Śivadṛṣṭi as—

'यथोक्तं मयैव शिवदृष्ट्यालोचने प्रेषोऽपि स भवेद् यस्य शक्तता नाम विद्यते ।' —P.T.V. 116

(4) **Pūrva Pañcikā**—It is a commentary upon the 'Pūrva-śāstra', too spoken of as Mālinīvijaya, which in accordance with the following quotation of the 'Tantrāloka', is the most significant work on the Trika school of Kāśmīra śaiva philosophy as—

'दशाष्टादशवस्वष्ट भिन्नां यच्छासनं विभोः तत्सारं त्रिकशास्त्रंनुतत्सारं मालिनीमतम् ॥'

By its name Pañcikā means as descriptive explanation and from the often quotations it seems that it is the biggest one out of his books. Abhinava hismself says in the last line of the 'Mālinīvijaya Vārtika' which is an explanation of the first verse of Mālinīvijaya regarding the size and shape of this book—

'प्रवरपुरनाममध्ये पुरे पूर्वे काश्मीरिकोऽभिनवगुप्तः मालिन्यादिम-वाक्ये वार्तिकं एतद् रचयति स्म ॥'

Perhaps, this is lost and not recovered till now. In this regard we may strongly say that the loss of this very authentic book is a great and unfillable disadvantage.

Besides the above stated book, he wrote some other explanations on other Tantras too. The following reference of P.T.V. makes it very clear—

'निर्णीतं चैतद् मयैव श्रीपूर्वप्रभृतिपञ्चिकासु ।'

(5) **Padārthapraveśanirṇayaṭīkā**—We are not in a position to say more about this work than that it is a Psycho-philosophic work by its name and the nature of the context as the following quotation about this states—

'अनुसन्धायः स्मृतिभेदे तस्याश्च अनुभवोपजीवित्वे अनुभवाभावात्, वितत्य च विचारितं मयैतत् पदार्थप्रवेशनिर्णयटीकायाम् ।' —P.T.V. 162

(6) **Prakīrṇakavivaraṇa**—The reference to this book existes in Tantrāloka by which it seems that this is a grammatic philosophic book—

'इत्थं जडेन सम्बन्धे न मुख्यन्यर्थसङ्गतिः आस्तां अन्यत्र विततं एतद्विस्तरतो मया ।'

Jayaratha, commenting upon the work 'Anyatra' states as—

'अन्यत्रेति प्रकीर्णकविवर्णादौ ।'

In the above comments of Jayaratha, the word 'Ādi' tells us that Abhinava composed many other books of the same type.

(7) Prakaraṇavivaraṇa—Its reference is found in the 'Tantrasāra'. This is a commentary upon the 'Prakaraṇa stotra' written by him.

(8) Kāvyakautukavivaraṇa—This is also a commentary on the Kāvyakautuka of Bhaṭṭa Tota related to the Sanskrit poetics. Probably this was the first work on poetics authored by Abhinava because, it comes before the Locana on Dhvanyāloka in order of times, As the following quotation proves—

'स चाऽयं अस्मदुपाध्याय भट्टतौतेन काव्यकौतुके अस्माभिश्च तद्विवरणे बहुतरकृतनिर्णयः पूर्वपक्षसिद्धान्तः इत्यलम्बहुना ।'

(9) Kathāmukhatilakam—This is also one of his books as 'Bṛhatīvimarśinī' states. Madhurāja Yogin having referred names it 'Kathāmukha Mahātilaka' in his book, 'Gurunātha Parāmarśa'. It was basically related to the presentation of sixteen categories of Nyāya Philosophy. It was composed with the object of controlling the rivals, who participated in the controversial discussion with him, from getting rid off the right path from the topic of discussion and talking what was not pertinent to this and making victory over them[1]. From the context it seems that he tried to show how his rivals, the Bauddha etc. there in, putting before their opinions had gone against the known general standered of judgement of the logic.

(10) Laghvīprakriyā—It was stotra full of devotion composed by him as the under stated reference in the 'Bhagavadgītārthasaṅgraha' and the nature of the context shows in a clear tone—

'यथा च मयैव लघ्व्यां प्रक्रियायामुक्तम् ।'

---

1. Gu. Pa. 9

'न भोग्यं व्यतिरिक्तं हि भोक्तुस्त्वत्तो विभाव्यते एष एव हि भोगो यत्तादात्म्यं भोक्तृभोगयोयाः ।'

—Bh, G.S. 4th ch, verse 28

(11) Bhedavādavidāraṇa—The reference of this is to be available in the 'Bhagavadgītārtha Saṅgraha', 'Abhinava Bhāratī' and I.P.V. The purpose of this chiefly was to refute the dualistic theory, as is clear from the following quotation of I.P.V. II, 158—

कृतप्रतानश्चायं प्रकृत्यर्थन्यर्थविवेको ।
मयैव भेदवादविदारणे इति तत् एवान्वेष्यः ॥

(12) Devīstotravivaraṇa—This is also one of his commentaries authored to the monistic point of veiw upon the 'Devīstotra' of Ānandavardhana, the founder of the Dhvani school and the stotra has already been published in the Kāvyamālā series, our statement is basically concerned with the lines of Bhagavadgītārthasaṅgraha as occures—

'सर्वभूतेषु आत्मानं ग्राहकतया अनुप्रविशन्तं भावयेत्, आत्मनि च ग्राह्यताज्ञानाद्वारेण सर्वाणि भूतानि एकीकुर्यात्, अतश्च समदर्शनत्वं सञ्जायते योगश्चेति संक्षेपार्थतः विस्तरस्तु भेदवादविदारणादिप्रकरणे देवीस्तोत्रविवरणे च मयैव निर्णीतः ।'

Above the word 'Ādi' after 'Bhedavādavidāraṇa' makes this very clear that he composed other many books also to refute the theories of the dualism.

(13) Tattvādhvaprakāśikā—This is also a commentary written by him. He has discussed about the nature and the number of the elements admitted by the Trika system which is referred by Jayaratha in his Tantrāloka's commentary as—

'ग्रन्थकृता च तत्त्वाध्वप्रकाशनादौ तत्र तत्र तन्मतावलम्बनं एव कृतम् ।'

(14) Śivaśaktyāvinābhāva stotra—In accordance with the title of this work, it seems that Abhinava has composed this stotra in the praise of Lord Śiva and Goddess Śakti and they both are many times described in inseperable form in the

Kāśmīra śaiva scriptures. Two verses are quoted from this stotra by him in his commentary on the Bhagavadgītā's ninteenth verse of the fifteenth chapter.

A General Idea of Abhinava's Available Books

(1) **Bodhapañcadaśikā**—Sixteen verses are there in this book because in fifteen verses the basic theories of non dual śaivism are discribed briefly in this, so this is spoken of as 'Bodha Pañcadaśikā'. Abhinava is the pamphleteer and has propagandized the śaiva concept of śiva and śakti, their inseprable relation and consequent flow out of the universe; the nature and the reason of bondage and the path to get rid of it and their (bondage and freedom) existense non-difference from the Highest Lord, the Parama Śiva but the sixteenth verse of this, propagandistic pamphlet simply states the object of such type of a composition. As the following quotation tells, this pamphlet was composed with the expressed aim of making able his disciples having less intellectual power, simply to understand the basic theories of the school explained by him—

'सुकुमारमतीन् शिष्यान् प्रबोधयितुं अञ्जसा इमेऽभिनवगुप्तेन श्लोकाः पञ्चदशोदिताः ।'

It is to be noted here that it has been translated in this book, the 'Abhinavastotrāvaliḥ'.

(2) **Mālinīvijayavārtika**—This is also a commentary upon the Mālinīvijaya Tantra composed by Abhinava and which is also spoken of as Śrīpūrvaśāstra. This was authored on the earnest prayer of his very loving desciples Karṇa and Mandra.[1] It is much unfortunate that the commentary at Mālinī Tantra's first verse only is to be available till now and which was written in the eastern part of the Prāvarapura.[2] He wrote his Vārtika on more than one verse and the published edition containing of only two chapters, is merely a portion of a very vast and wide book that he composed, is clear from his repeated reference to the eighteenth chapter where he assures

---

1. M.V.V. 2
2. M.V.V. 135

to consider exhaustively with the different points under discussion. Although it is second in the list of his published books yet not the second of his composition. The part available of this work is a very damaging criticism of different significant principles of Nyāya philosophy.

(3) Parātriṁśikāvivaraṇa—Among the eight with respect to number of equal groups[1] of the sixtyfour monistic tantras, Rudrayāmala tantra is the seventh in the second Yāmala group. The verses making up the text of the Parātriṁśika frame the concluding portion of the same. The verses provide a summary of the entire Tantra. The following statement gets its support in the ending verse of the text itself—

'एवं मन्त्रफलावाप्तिरित्येतद् रुद्रयामलम् ।'

And the Vivaraṇa is a commentary of Abhinavagupta on this.

(4) Tantrāloka—This is the greatest among all the books written by Abhinavagupta discovered so far. This is an Encyclopaedia of the monistic śaivāgamas. It considers exhastively with all the subjects related to the sixtyfour monistic Āgamas. It discusses equally both of the matters, the ritualistic and the philosophic. Though it is basically related with the systematic presentation of the teachings of Kula school[2] and the Tāntric systems only yet it occasionally gives authentic information on others also such as Krama etc. It contains thirtyseven chapters and all of these have been published. My father Prof. Radheshyam Chaturvedi has translated all the chapters in Hindi and this has also been published by the same publisher in five volumes. The first five, the ninth and the thirteenth chapters are of very great philosophic significance. The ninth chapter is very interesting because it deals with the thirtysix elements of the Śaiva philosophy and the thirteenth provides us an idea of Śaiva principle of Karma so it also creates interest.

---

1. T.A. I, 42
2. T.A. I, 24

(5-6) **Tantrasāra and Tantravaṭadhānikā**—These two books as their titles imply, are the summaries of Tantrāloka. Tantravaṭadhānikā is a briefer summary than the Tantrasāra. These are like a seeds of Tantrāloka, the enormous tree.

(7) **Dhvanyālokalocana**—The Dhvanyāloka is a work of Ācārya Ānandavardhana and Locana is a very significant commentary of Abhinavagupta upon this. This work is divided into four chapters and the chapter is named Udyota. In this book the theories of opponents of Dhvani like Abhāvavādin etc have been refuted and the Dhvani-theory has been established. To disclose the secrecy of Dhvani becomes possible only because of Locana commentary of Abhinava. So Locana is more important than the original text.

(8) **Abhinavabhāratī**—It is also a commentary of Abhinava upon the Nāṭyaśāstra of Bharata Muni. In this Abhinava almost follows the explanation of the text as he was taught by his teacher Bhaṭṭa Tauta[1] in this school. However, Abhinava differes with his teacher as he differs with Somānanda, to whom he follows and expands in his Parā Triṁśikā vivaraṇa. He discribes these differences in a very clear tone, as for example, in regard to there being a possibility of the enjoyment of Rasa from the careful reading of a poem.[2] His purpose in this commentary was not simply to prove that the explanations done by his predecessors Ācāryas of the text of Bharata Muni were wrong but rather to improve them.[3]

(9) **Bhagavadgītārthasaṅgraha**—This work is simply a summary of the subject matter of the Bhagvadgītā but not a commentary in the strict sense of the word as its name implies. In this Abhinava traditionally explains to the śaiva point of view as he was taught by his teacher, Bhaṭṭendurāja, but never said about justification.[4] Abhinava composed this work only at the several repeated prayer of a certain religious and pious

---

1. A.Bh. vol. I, 1
2. A.Bh. Vol. I, 292-293
3. A.Bh. Vol. I, 2
4. Bh. G.S. S-3

Brahmin, Loṭaka.[1] Only the person can be able to understand this work who has a sound knowledge of the undisputed parts of the text as well as that of the basic theories of Trika Philosophy.

(10) Paramārthasāra—This work briefly mentions the most important therories of the Trika philosophy and so it is called Paramārthasāra—

'आर्याशतेन तदिदं संक्षिप्तं शास्त्रसारमतिगूढम् ।'

As Abhinava himself states, it is an adoptation of the Ādhāra Kārikās of Śeṣa Muni who is also known as Ādhāra Bhagavān or Ananta Nātha. These Kārikās are called as Paramārthasāra too. He briefly states the most needful theories of the Sāṅkhya philosophy and says that the liberation can be achieved by distinguishing between Prakṛti and Puruṣa.

(11) Īśvarapratyabhijñāvivṛtivimarśini—It is a commentary of Abhinava on the commentary of Ācārya Utpala known as vivṛti on his own 'Pratyabhijñā sūtras' as he himself mentions in the introduction to this work—

'श्रीमल्लक्ष्मणगुप्तदर्शितः श्रीप्रत्यभिज्ञाविधौ टीकार्थप्रविमर्शिनी रच्यते वृत्तिं प्रशिष्यो गुरोः ।'

This book makes clear the most of the subject matters which are very clear in the 'Laghvī vimarśinī'. But the readers will feel pain having known that the commentary of Utpala on which Abhinava's this work is a commentary has not so far been found in complete, it is considered that unfortunately has been lost.

(12) Īśvarapratyabhijñāvimarśinī—It is also a commentary of Abhinava known as vimarśinī upon the Pratyabhijñā sūtras of Ācārya Utpala. This is also known as Laghvī vimarśinī because of its being a comparatively less detailed commentary than the bigger one just mentioned above.

Ten Smaller Works of Abhinava

These ten smaller works of Abhinava spoken of as 'Stotras'

1. Bh. G.S. S-5

and which are being translated in both of the languages, the Hindi and the English, in this book, can be divided in two parts—(1) Stotras related to the propagation of the Trika philosophy of Kāśmīra Śaivism. (2) Stotras related to the praise of Ultimate Reality.

13. Anuttarāṣṭikā
14. Paramārtha Dvādaśikā
15. Paramārtha Carcā
16. Mahopadeśa Viṁśatikā.

And to the later class belong :

17. Krama Stotra
18. Bhairavastatvaḥ
19. Dehastha Devatā Cakra Stotra
20. Anubhavanivedana
21. Rahasya Pañcadaśikā
22. Pañcaślokī

All of the first four stotras are related to the interpretation of the phenomenon of the world as non-different from the Supreme Reality, which is called as 'Anuttara' in the first, 'Paramārtha' in the second and the third and 'Prapañcottīrṇa' and 'Viśvamūrti' in the end of the first group. They opine that the realisation of the Supreme Reality, as they represent it, is the only path to get salvation.

'संसारोऽस्ति न तत्त्वतस्तनुभृतां बन्धस्यवार्तैव का ।'

The above first line of the second śloka of the Anuttarāṣṭika is quoted by Ācārya Jayaratha in his Tantrāloka's commentary, III, 99. Though we get some of the similes in this work very commonly used by the scholars of Vedānta philosophy to interpret the non-reality of the world, for example—

'मिथ्यामोहकृदेष रज्जुभुजगच्छायापिशाचभ्रमः ।'

Yet it would be a blunder to think that the Trika concept of the world is the same as that of the Vedānta's concept because former is Ābhāsavāda and the latter is Vivartavāda.

The 'Paramārtha Dvādaśikā' was also spoken of as Advaya

Dvādaśikā because the second śloka—

'यद्यतत्त्वपरिहारपूर्वकं तत्त्वमेषि तदतत्त्वमेव हि ।'

is quoted by Ramādvyācārya in his commentary Bhāvopahāra, verse 45 on the Cakrapāṇinātha with the intodoctory remark—'अद्वय द्वादशिकायामपि ।'

About the two stotras namely the Krama and the Bhairava, we have already stated in deciding the date of Abhinavagupta. Here it may be noted in connection with the Bhairava stotra that in the families of old Paṇḍits of Kāśmīra, there a tradition still current which states that Abhinava while entering the Bhairava cave for his last samādhi, was chanting this stotra.

In the 'Dehasthadevatācakrastotra' he shows that the helper deities of Śiva, stated in the Purāṇas, are found associated with him even when he is in the body as a limited self. Although in the later case their names and forms are different yet their functions are the same. For example, he is told to have gotten two door-keepers namely the Gaṇeśa and the Baṭuka in the Purāṇas. They go with him even when he assumes limitations as an individual to guard two of the nine doors of the body. Certainly in this case, they are spoken as Prāṇa and Apāna.

As regards the 'Anubhavanivedana' Stotra it may be said here that our attribution to this to Abhinava is based on the authority of a tradition. We have not been capable so far in any respect either internally or externally any literary evidence to support it. Nothing says the colophon about its authorship. But Prof. K.C. Pandey added it in the list of Abhinava's works because he got it in an old cllection of Abhinava's Stotras in the possession of Harbhaṭṭa Śāstrī of Kāśmīra. It may be noted here that the first two ślokas of this work are found in the 'Haṭhayoga Pradīpikā' written by Svāmī Swātmārāma as the ślokas thirtyseventh and fortyfirst respectively, without mentioning that those are quotations from elsewhere. The occurrence of the two ślokas of the 'Anubhava Nivedana' in the 'Haṭhayoga Pradīpikā' does not prove that Svātmārāma Svāmin is the composer of the two verses.

And as regards the 'Rahasya Pañcadaśikā', the last line of the last verse of this work tells us that these fiften verses were authored by Abhinavagupta and the title also indicates the number fifteen. So this stotra must contain 15 verses only. But the number is 37 in the manuscript. This creates a problem of writership of this work. Although in some of his other works too the number of verses of course found is more than there should be, in accordance with his own statement—for example the 'Paramārthasāra' consists hundred and five verses, though his statment in the conclusion of this work is 'I have summarised the needful theories of the Trika system in one hundred Āryā verses and the 'Bodha Pañcadaśikā' contains sixteen verses, though according to the title there should be 15 verses only, yet the extra verses, available in these works, accept of explanation as we have stated in discussing with them. But in this present work the number of extra verses is so large, being more than twice the number that there should be in accordance with the writer's own statement, that one is compelled to think that either it is not a genuine work of Abhinava or that so many verses have been interpolated in this that it is not easy to differenciate the original verses from the interpolated.

This is basically related to the presentation of Parāśakti in inseperable association with the Lord Śiva or Parama Śiva[1] under the effect of the religious mythical concept of Śiva and Pārvatī. It tells about Parā as both Lakṣmī[2] and Sarasvatī[3] representing her in the characteristic features of the two deities as imagined in the Purāṇas. It tells her powers as Veda[4] mentions. It gives a mixture of philosophic concept of Parā with the mythical concept of Pārvatī, Lakṣmī and Sarasvatī etc. Oftenly it opines again and again the same word and the idea. To this work, till now no refference has been traced.

But as regards Pañcaślokī, it is also a smaller work of

1. R. P. 4
2. Ibid. 7
3. Ibid. 22
4. Ibid 18

Abhinava known as stotra. Dr. K.C. Pandey could not include this in the list of Abhinava's short works. Dr. Pandey has given the names of Abhinava's nine short works only. Adding this the number of his smaller works becomes ten. As the title implies it contains only five verses. In these five verses the greatness of teacher (Guru) or God is described because only he is the destructer of all kinds of ignorances or darkness and the provider of light in the form of knowledge.

(23) Tantroccaya—This is another short form of the encyclopaedic work, the Tantrāloka, shorter than the 'Tantrasāra' but larger than the 'Tantravaṭadhānikā'. Both of the introductory and concluding verses tells about its being a work of Abhinava.

(24) Bimbapratibimbavāda—This work of Abhinava is mentioned in the two catalogues—(a) Dr. Buhler's Kāśmīra catalogues and (b) Dr. Bhandarkar's report of the collection of Sanskrit MSS. Dr. K. C. Pandey accept it a seperate work of Abhinavagupta. He says that in real sense this is only a portion of third Āhnika of the 'Tantrāloka', wherein he refutes the principle of Bimbapratibimbavāda of the Nyāya philosophy and establishes the theory of Śaiva philosophy. Of course, the colophon states in a very clear tone that the Bimbapratibimba-vāda is only an extract from the 'Tantrāloka'.

(25) Anuttaratattvavimarśinīvṛtti—This is also a commentary of Abhinava according to Pt. P. S. Śāstri, there are two MSS of this work but both are incomplete unfortunately. Prof. Shastri's this inference—"The work under notice is perhaps his (Abhinava's) commentary on the Utpalācāryā's Īśvarapratyabhijñā, a metrical summary of śaivism"—leaves no doubt at all about Abhinava's writership of this work.[1] This work explains about Anuttaratattva specially. The following passage is enough to prove this—

'श्री देव्युवाच' किं पृच्छतीत्यताह—'अनुत्तर' इति, अनुत्तरं स्वात्मदेव सद्यः का......सिद्धिदम्, येन विज्ञानमात्रेण खेचरी समतां ब्रजेत्' ॥

---

1. T. C., page, 6361

The Last Scene of Abhinava's Worldly Life

Unlikely what ever has been written till now, there is no other authority for us than that of a tradition and which we will mention in further few sentences. Till the present time we could not be able to recognise any written authority upon which it may be firstly based. This tradition is not prevalent only in old Paṇḍita families but also in some old Muslim homes in the place where this event took place, states that one day having completed his work, Abhinavagupta, as he thought, along with his twelve hundred pupils went into the Bhairava cave and never returned. That cave even now exists there. It is about five miles far from the Magama, a place midway between Śrīnagara and Gulmurga. A village extremely near to this cave and a small river running down below the hill, where the cave exists, both of them are called by the name of Bhairava. The mouth of cave is at enough great height from the bottom of the hill and from below seems like a cleft in a rock. It runs deep down to the surface of the earth. It's hole is so narrow that a man can't enter it very easily. At the sight of a small opening and dark deep hole immediately, one fears of entering. One can't walk but to crawl into this and that too at some palces with much problem. This has several paths leading to places where in one can sit concentrately and meditate. Among these places one is big enough spaciously to accommodate forty-fifty men. This is shapely round and at a great height there is crack towards the sky but it does not permit to the sun rays to penetrate so far into the cave as to be perecived by the persons within. Far into the cave a hole was pointed out, through which none other but a child can find a passage, and it was told that Abhinava entered through this way. It was also said by the guide that the hole was much larger in earlier times who took Dr. Pandey to show the place. After all under the effect of geographical changing the hole slowly became smaller with the passing times. Out side of this opening on the rockwalls there seems to inscribed some thing by a very sharp instrument but it is impossible to say at present what is this? This is quite possible that the upper layers of the rock may have got so cracked as to seem like inscribed with figures and letters.

A Mohammedan fortunately met to Dr. K. C. Pandey who was fully religious, long bearded, bent and of very old age, walking slowly reclining at his slender stick, told only this—*"Hama ne hamārā dādā se sunā, Abnacārī bārāsau sāgirdon ke sātha isake andara gayā bas phira pīchū nahīn lauṭā."* [I listend from my grand father that Brahmacārī entered along with his twelve hundred pupils but never returned.] This was told to Dr. Pandey in such a tone and with such a impressive expression of sincerity and full of truthness on the wrinkled face that Dr. Pandey felt convinced that what ever may be the exaggeration in the numbers of desciples, the fact that Abhinavagupta entered the cave with some of his desciples and never came back, is quite true, for the simple cause that to retire from the noise of the world to some inaccessible place to take samādhi seems to be the natural termination of the worldly life of a person like Bhairava incarnate Abhinavaguptapādācārya.
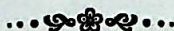
अनुत्तराष्टिका
Anuttarāṣṭikā

[इस स्तोत्र का नाम 'अनुत्तराष्टिका' इसलिए है क्योंकि इसमें आठ श्लोक हैं तथा अनुत्तर तत्त्व के विषय में वर्णन है । यह अनुत्तर तत्त्व अद्वैत वेदान्तियों के ब्रह्म के समान अद्वैत काश्मीर शैवदर्शन का परम शिव है । भैरवावतार अभिनवगुप्तपादाचार्य भी अद्वैतवादी शैव दार्शनिक हैं । इनके द्वारा रचित प्रायः सभी स्तोत्र भक्ति भावना से परिपूर्ण होते हुए भी दार्शनिक विचारों से ओतप्रोत है । यही ज्ञान की चरम सीमा है, अन्तिम सत्य है, यही परा है, पूर्ण संविद् है । इसके परे किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं[१] है । यह सभी प्रकार की सीमाओं से रहित है । सम्पूर्ण विश्व और उसके परे ज्ञान, अज्ञान सर्वस्व इसी की इच्छाभिव्यक्ति मात्र है और कुछ नहीं । यह स्तोत्र यह कहता है कि सम्पूर्ण वैश्विक परिदृश्य उस परमसत्ता से अभिन्न है और उसी परमसत्ता अथवा अनुत्तरतत्त्व का साक्षात्कार ही मुक्ति का मार्ग है ।

The name of this stotra is Anuttarāṣṭikā because it contains eight verses and the Anuttara element is described here in. This Anuttara tattva is known as Parama Śiva of the monistic Kāśmīra Śaiva philosophy like that of Brahma of monistic Vedānta philosophy. Bahirava incarnate Abhinavaguptapādācārya has composed such philosophic stotras which are also full of feeling of devoiton. This is the ultimate limit of knowledge, the supreme truth and too All Inclusive Universal Consciousness, beyond which nothing exists. The whole world, entire knowledge, ingnorance and all the things are the manifestation of His desire only. This stotra states that the phenomenon of the entire world as non different from the Highest Reality which is called 'Anuttara'. It also explains that the realisation of the Highest Reality is the only way to salvation.]

संक्रामोऽत्र न भावना न च कथायुक्तिर्न चर्चा न च
ध्यानं वा न च धारणा न च जपाभ्यासप्रयासो न च ।

---

१. 'न विद्यते उत्तरं प्रश्नप्रतिवाचोरूपम्'—पी.टी.वि. १९

तत्किं नाम सुनिश्चितं वद परं सत्यं च तच्छ्रूयतां
न त्यागी न परिग्रही भज सुखं सर्वं यथावस्थितः॥ १ ॥

इस संसार में न संक्रमण है, न कथायुक्ति, न चर्चा, न भावना, न ध्यान, न धारणा, न जप का अभ्यास अथवा प्रयास । तो पुनः क्या है? इसको निश्चित रूप से बताओ । (तो उत्तर में कहा गया कि) अन्तिम सत्य को सुनो, न त्यागी बनो, न गृहस्थ, स्वाभाविक स्थिति में रहते हुए सम्पूर्ण सुःखों का उपभोग करो ॥ १ ॥

saṅkrāmo'tra na bhāvanā na ca kathāyuktirna carcā na ca
dhyānaṃ vā na ca dhāraṇā na ca japābhyāsaprayāso na ca ।
tatkiṃ nāma suniścitaṃ vada paraṃ satyaṃ ca tacchrūyatāṃ
na tyāgī na parigrahī bhaja sukhaṃ sarvaṃ yathāvasthitaḥ ॥ 1 ॥

Here in this world, there is neither transmigration, nor recollection nor narrative argument, nor description, nor meditation, nor fixation of mind on the point, nor effort to practice of japa. Then what is (to be done)? Tell certainly, listen to that ultimate truth, do not become renunciater nor house holder, enjoy happily all being in your natural condition. ॥ 1 ॥

संसारोऽस्ति न तत्त्वतस्तनुभृतां बन्धस्य वार्तैव का
बन्धो यस्य न जातु तस्य वितथा मुक्तस्य मुक्तिक्रिया।
मिथ्यामोहकृदेष रज्जुभुजगच्छायापिशाचभ्रमो
मा किंचित्त्यज मा गृहाण विलस स्वस्थो यथावस्थितः ॥ २ ॥

शरीरधारियों के लिए वस्तुतः संसार नहीं है । पुनः बन्धन की क्या बात? जिसका कभी बन्धन नहीं होता उस मुक्त शरीरधारी के लिए मुक्ति के लिए उपाय (कर्म, क्रिया) व्यर्थ है । यह संसार मिथ्या मोह के द्वारा बनाया गया है । यह रस्सी में सर्प अथवा छाया में पिशाच के समान भ्रम है इसलिए न किसी का त्याग करो, न किसी का ग्रहण, स्वस्थ और यथावस्थित होकर आनन्द करो ॥ २ ॥

saṃsāro'sti na tattvastanubhṛtāṃ bandhasya vārtaiva kā
bandho yasya na jātu tasya vitathā muktasya muktikriyā ।
mithyāmohakṛdeṣa rajjubhujagacchāyāpiśācabhramo
mā kiṃcittyaja mā gṛhāṇa vilasa svastho yathāvasthitaḥ ॥ 2 ॥

The world does not exist really for human being, then what to be said about bondage, One who is never in bondage, for him i.e. the liberated one, the effort for liberation is false. This illusion, just like snake in rope, or devil in shadow, is caused by false

attachment. Neither abondon any thing nor take, enjoy, living in yourself in natural condition ‖ 2 ‖

पूजापूजकपूज्यभेदसरिणः केयं कथानुत्तरे
संक्रामः किल कस्य केन विदधे को वा प्रवेशक्रमः ।
मायेयं न चिदद्वयात्परतया भिन्नाप्यहो वर्तते
सर्वं स्वानुभवस्वभावविमलं चिन्तां वृथा मा कृथाः ॥ ३ ॥

पूजा, पूजक और पूज्य, अनुत्तर के विषय में यह कैसी कथा? इसी प्रकार कौन किसके द्वारा अनुत्तर में संक्रमण कर सकता है? अथवा प्रवेश का मार्ग क्या है? यहाँ तक कि यह माया भी अद्वय परम चैतन्य से भिन्न नहीं है । सब अपने अनुभव, स्वभाव के कारण विमल है । अतः व्यर्थ की चिन्ता मत करो ॥ ३ ॥

pūjāpūjakapūjyabhedasariṇaḥ keyaṃ kathānuttare
saṅkrāmaḥ kila kasya kena vidadhe ko vā praveśakramaḥ ।
māyeyaṃ na cidadvayātparatayā bhinnāpyaho vartate
sarvaṃ svānubhavasvabhāvavimalaṃ cintāṃ vṛthā mā krathāḥ ‖ 3 ‖

The system of difference like worship, worshiper and worshipable and discussion about Anuttara is useless. The transmigration of what? By which? And who is the doer of it? And what is procedure of entrance? This is Māyā which is not other than the nou-dual ultimate conscious. All is neat and clean because of being indifferent to selfrealization and self natural condition. Therefore do not be anxious in vain ‖ 3 ‖

आनन्दोऽत्र न वित्तमद्यमदवन्नैवाङ्गनासङ्गवत्
दीपार्केन्दुकृतप्रभाप्रकरवत् नैव प्रकाशोदयः ।
हर्षः संभृतभेदमुक्तिसुखभूर्भारावतारोपमः
सर्वाद्वैतपदस्य विस्मृतनिधेः प्राप्तिः प्रकाशोदयः ॥ ४ ॥

इस संसार में आनन्द न तो धन के मद के समान है और न तो स्त्री-समागम के समान है । इसके अन्दर दीप, सूर्य, चन्द्रमा के द्वारा किये गये प्रकाश की भाँति प्रकाश नहीं होता । यहाँ का आनन्द भेद से रहित सुख की भूमि के भार के अवतार के समान है । विस्मृत निधि की (प्राप्ति के समान) समस्त अद्वैतपद की प्राप्ति ही प्रकाश का उदय है ॥ ४ ॥

ānando'tra na vittamadyamadavannaivāṅganāsaṅgavat
dīpārkendukṛtaprabhāprakaravat naiva prakāśodayaḥ ।
harṣaḥ saṃbhṛtabhedamuktisukhabhūrbhārāvatāropamaḥ
sarvādvaitapadasya vismṛtanidheḥ prāptiḥ prakāśodayaḥ ‖ 4 ‖

Here the bliss is neither like the intoxication caused by wealth or wine, nor like that of copulation with woman. The rise of light is not like the showering of glow (light) caused by lamp, the Sun, the Moon the exhilaration here is born of the pleasure of freedom from adopted differentiation. It is just like taking of the weight (from head or shouldear). This rise of light is of (realization of) all non-dual thought, like achievement of forgotten treasure ॥ 4 ॥

रागद्वेषसुखासुखोदयलयाहङ्कारदैन्यादयो
ये भावाः प्रविभान्ति विश्ववपुषो भिन्नस्वभावा न ते।
व्यक्तिं पश्यसि यस्य यस्य सहसा तत्तत्तदेकात्मता-
संविद्रूपमवेक्ष्य किं न रमसे तद्भावनानिर्भरः ॥ ५ ॥

राग-द्वेष, सु:ख-दु:ख, उदय-अस्त, अहङ्कार-दीनता इत्यादि जो भी भाव लोगों को प्रतीत होते हैं वे विश्वशरीर अनुत्तर के स्वभाव से भिन्न नहीं हैं अपितु अनुत्तर के स्वभावरूप ही हैं । जिस-जिस भाव की अभिव्यक्ति तुम देखते हो वह सब एकरूप संवित् ही है । तो फिर उसकी भावना से परिपूर्ण होकर आनन्द क्यों नहीं उठाते? ॥ ५ ॥

rāgadveṣasukhāsukhodayalayāhaṅkāradainyādayo
ye bhāvāḥ pravibhānti viśvavapuṣo bhinnasvabhāvā na te ।
vyaktiṃ paśyasi yasya yasya sahasā tattattadekātmatā-
saṃvidrūpamavekṣya kiṃ na ramase tadbhāvanānirbharaḥ ॥ 5 ॥

The thoughts like attraction and repulsion, pleasure and pain, beginning and end, pride and grief etc, which rise in the mind, are not of different nature from the Universal Self. The manifestation of different things which you realize accidently by all that having observed identical to Saṁvid why don't you enjoy being dependent upon the recollection of that. ॥ 5 ॥

पूर्वाभावभवक्रिया हि सहसा भावाः सदाऽस्मिन्भवे
मध्याकारविकारसङ्करवतां तेषां कुतः सत्यता ।
निःसत्ये चपले प्रपञ्चनिचये स्वप्नभ्रमे पेशले
शङ्कातङ्ककलङ्कयुक्तिकलनातीतः प्रबुद्धो भव ॥ ६ ॥

इस संसार में जितने आकस्मिक भाव दिखाई दे रहे हैं वे पूर्ववर्ती शून्य से उत्पन्न हैं अर्थात् उनके पहले शून्य ही था और वे असत् थे । आकार-विकार से युक्त वे मध्य में कैसे सत्य हो सकते हैं? स्वप्न के समान भ्रम मनोहारी,

असत्य और चञ्चल इस प्रपञ्च समूह के विषय में शङ्कारूपी आतङ्क के कलङ्क से युक्त मत बनो । ज्ञानवान् हो जाओ ॥ ६ ॥

pūrvābhāvabhavakriyā hi sahasā bhāvāḥ sadā'sminbhave
madhyākāravikārasaṅkaravatāṃ teṣāṃ kutaḥ satyatā I
niḥsatye capale prapañcanicaye svapnabhrame peśale
śaṅkātaṅkakalaṅkayuktikalanātītaḥ prabuddho bhava II 6 II

Here in this world, all the things are accidently born of previous Nihilism. (The things which) take mixed shape in the middle (neither in the beginning nor in the end), how can they be true? When this universal phenomenon is untrue, momentary, illusive like dream, false tempting, regarding this universe, go beyond the practice of argument which is full of the spot of terror doubtful, and be awakened. II 6 II

भवानां न समुद्भवोऽस्ति सहजस्त्वद्भाविता भान्त्यमी
निःसत्या अपि सत्यतामनुभवभ्रान्त्या भजन्ति क्षणम् ।
त्वत्सङ्कल्पज एष विश्वमहिमा नास्त्यस्य जन्मान्यतः
तस्मात्त्वं विभवेन भासि भुवनेष्वेकोप्यनेकात्मकः ॥ ७ ॥

पदार्थ स्वभावतः उत्पन्न नहीं होते, आपके द्वारा प्रेरित होकर ये सबको प्रतीत होते हैं । असत्य होते हुए भी ये अनुभव की भ्रान्ति के कारण एक क्षण के लिए सत्य हो जाते हैं । यह विराट् विश्व आपके सङ्कल्प से उत्पन्न होता है । इसका जन्म किसी दूसरे कारण से नहीं होता, अतः एक होते हुए भी आप अपने वैभव से अनेक प्रतीत होते हैं ॥ ७ ॥

bhavānāṃ na samudbhavo'sti sahajastvadbhāvitā bhāntyamī
niḥsatyā api satyatāmanubhavabhrāntyā bhajanti kṣaṇam I
tvatsaṅkalpaja eṣa viśvamahimā nāstyasya janmānyataḥ
tasmāttvaṃ vibhavena bhāsi bhuvaneṣvekopyanekātmakaḥ II 7 II

There is no natural birth of the things. These manifest being thought by you. Even though, they are untrue yet due to thought-illusion they become true for a moment. This grandeur of the universe is born of your thought-colistruct. Its birth is not from some where else. That is why you, even though single and one, manifest many in the world, due to your splendour. II 7 II

यत्सत्यं यदसत्यमल्पबहुलं नित्यं न नित्यं च यत्
यन्मायामलिनं यदात्मविमलं चिद्दर्पणे राजते ।

तत्सर्वं स्वविमर्शसंविदुदयाद् रूपप्रकाशात्मकं
ज्ञात्वा स्वानुभवाधिरूढमहिमा विश्वेश्वरत्वं भज ॥ ८ ॥

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादैर्विरचितानुत्तराष्टिका समाप्ता ॥

जो सत्य है तथा जो असत्य है, जो थोड़ा और अधिक है, नित्य है और अनित्य है, जो माया के कारण मलिन है अथवा आत्मा के कारण निर्मल है और चित्रूपी दर्पण में दिखाई पड़ता है, वह सब अपने विमर्श-संवित् के उदय के कारण रूपात्मक प्रकाशात्मक है। ऐसा समझकर अपने अनुभव पर आरूढ़ महिमावाला बनकर तुम विश्वेश्वर बन जाओ ॥ ८ ॥

yatsatyaṃ yadasatyamalpabahulaṃ nityaṃ na nityaṃ ca yat
yanmāyāmalinaṃ yadātmavimalaṃ ciddarparṇe rājate |
tatsarvaṃ svavimarśasaṃvidudayād rūpaprakāśātmakaṃ
jñātvā svānubhavādhirūḍhamahimā viśveśvaratvaṃ bhaja || 8 ||

|| iti śrīmadācāryābhinavaguptapādairviracitānuttarāṣṭikā samāptā ||

The true and untrue, the little and much, the eternal and non-eternal, the impure due to Māyā and pure due to Self what so ever reflects in the mirror of conciousness, all that is identical to the light of form due to the rise of Saṁvid of selfawareness. Having realized like this, you become glorious being accomplished with selfrealization, and enjoy the lordship of the universse. || 8 ||

|| Thus the Anuttarāṣṭikā of Abhinavaguptapādācārya comes to an end ||

परमार्थद्वादशिका
Paramārthadvādaśikā

[परमार्थद्वादशिका में कुल तेरह श्लोक हैं । इसमें परमार्थ का विवेचन है। परम शिव ही परम अर्थ अर्थात् परमार्थ है । इस संसार में भेद-अभेद, द्वैत-अद्वैत आदि जो कुछ भी प्रतीत होता है वह ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । परमार्थ की महिमा से उसी में सम्पूर्ण सृष्टि का उदय और लय दोनों है । इस स्तोत्र में आचार्य अभिनवगुप्त ने ज्ञान से मुक्ति की बात कही है । जिस प्रकार आत्मा के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं उसी प्रकार परम चैतन्य के भीतर भी कुछ नहीं है । आत्मतत्त्व के अतिरिक्त जो कुछ भी प्रतीत होता है वह केवल रस्सी में सर्प के समान (मोह) भ्रम ही है।

Paramārtha-dvādaśikā stotra contains thirteen verses only. Here in, Paramārtha i.e. the supreme element has been described. In this universe difference, non-differenece and dual-nondual etc. what ever in form is merely knowledge and nothing else. Because of the glory of Parama Śiva (i.e. All Inclusive-Universal Consciousness), this whole creation appears and disappears merely in him. In this stotra, Ācārya Abhinavagupta opines that liberation is impossible without knowledge. As there lies nothing beside the self, so nothing exists in the supreme consiousness except supreme light. What ever is to be manifested beside the self that is mere illusion like the snake in the rope.]

शान्तिं सम्भज नित्यमल्पवचनैर्जल्पक्रमं संहर
तत्संहारगमेन किं कथमिदं कोऽसीति मा चीक्लपः ।
भावाभावविभागभासनतया यद्भात्यभग्नक्रमं
तच्छून्यं शिवधाम वस्तु परमं ब्रह्मात्र कोऽर्थग्रहः ॥ १ ॥

शान्ति धारण करो, प्रतिदिन अल्प वचनों के द्वारा अधिक बोलने की स्थिति को कम करो, उस कम करने के द्वारा यह क्या है? कैसे है? तुम कौन हो? ऐसी कल्पना मत करो । भावाभाव के विभाग के आभास के रूप में जो क्रम को भङ्ग न करते हुए प्रतिमान होता है वही शून्य, शिवधाम, वास्तविक वस्तु है। वही परब्रह्म है । इस विषय में कुछ भी विचारणीय नहीं है ॥ १ ॥

śāntiṃ sambhaja nityamalpavacanairjalpakramaṃ saṃhara
tatsaṃhāragamena kiṃ kathamidaṃ ko'sīti mā cīklṛpaḥ I
bhāvābhāvavibhāgabhāsanatayā yadbhātyabhagnakramaṃ
tacchūnyaṃ śivadhāma vastu paramaṃ brahmātra ko'rthagrahaḥ II 1 II

Have peace, remove the succession of talk by daily less-speach. By that removal don't think as to what is this and how, who you are. Whatever is manifesting in the form of manifestation of classification like being and non-being, that is Śūnya with unbroken order, which is called the place of Śiva. That is ultimate thing Brahman. Here is nothing other to be considered. II 1 II

यद्यतत्त्वपरिहारपूर्वकं तत्त्वमेषि तदतत्त्वमेव हि ।
यद्यतत्त्वमथ तत्त्वमेव वा तत्त्वमेव ननु तत्त्वमीदृशम् ॥ २ ॥

यदि अतत्त्व का परिहार न करते हुए तुम किसी तत्त्व को प्राप्त करते हो तो वह अतत्त्व ही है । यदि अतत्त्व को भी तत्त्व समझते हो तो तत्त्व इसी प्रकार का होता है ॥ २ ॥

yadyatattvaparihārapūrvakaṃ tattvameṣi tadatattvameva hi I
yadyatattvamatha tattvameva vā tattvameva nanu tattvamīdṛśam II 2 II

If you desire the real thing after availing the unreal ones, what you have got, is certainly unreal. If unreal thing is (couridered by you as) real, really that is real. The real is like this. II 2 II

यद्यद्भाति न भानतः पृथगिदं भेदोऽपि भातीति चेत्
भाने सोऽपि न भाति किं जहि ततस्तद्भंगिभङ्गग्रहम् ।
स्वप्ने स्वप्नतया प्रथां गतवती क्रीडैव नो भीतिकृ-
च्छस्त्राघातजलावपातहुतभुङ्निर्घातबन्धादिकम् ॥ ३ ॥

जो-जो प्रतीत होता है वह ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । यदि यह कहते हो कि भेद भी हमको प्रतीत होता है तो ज्ञान में भी क्या वह (भेद) प्रतीत नहीं होता? अतः उस भङ्गी के भङ्ग के ज्ञान को छोड़ो । (जिस प्रकार) स्वप्न में स्वप्न के रूप में विस्तार को प्राप्त क्रीडा भय का कारण नहीं बनती उसी प्रकार शस्त्राघात, जल की गहराई में गिरना, अग्नि में जलना और बन्धनादि का भय नहीं उत्पन्न करते ॥ ३ ॥

yadyadbhāti na bhānataḥ pṛthagidaṃ bhedo'pi bhātīti cet
bhāne so'pi na bhāti kiṃ jahi tatastadbhaṅgibhaṅgagraham I
svapne svapnatayā prathāṃ gatavatī krīḍaiva no bhītikṛ-
cchastrāghātajalāvapātahutabhuṅnirghātabandhādikam II 3 II

Whatever is manifesting that is not different from manifestation. If (you say that) the difference also manifests, then in manifestation that too does not manifest. Then what is to be abondoned? (the answer is) the knowledge of the process of manifestation of that (= manifestion). In the dream if (saṁvid) expands itself in the form of dream. The hurt from weapon, falling in the depth of water, the burn from fire and bondage etc. are playfulness (of His i.e. Saṁvit) and not the cause of fear. || 3 ||

ज्ञानक्रियाकलनपूर्वकमध्यवस्ये-
द्यद्यद्भवान् कथय कोऽस्य जडाद्विशेषः।
स्फूर्जन्जडोऽपि न किमद्वयबोधधाम
निस्सीमनित्यनिरवग्रहसत्यरूपम् ॥ ४ ॥

जिस-जिस वस्तु का निश्चय आप ज्ञान, क्रिया और कलन के बाद करते हैं बतलाइये उस वस्तु का जड़ से क्या भेद है? स्फुरित होने वाला जड़ भी क्या असीम, नित्य, बन्धनरहित, सत्स्वरूप अद्वयबोधधाम नहीं है? ॥ ४ ॥

jñānakriyākalanapūrvakamadhyavasye-
dyadyadbhavān kathaya ko'sya jaḍādviśeṣaḥ |
sphūrjanjaḍo'pi na kimadvayabodhadhāma
nissīmanityaniravagrahasatyarūpam || 4 ||

What so ever you decide, the creation after knowledge and activity, tell, in what respect it is different from inert? Is it not so that the inert if shines is the abode of non-dual thought which is unlimited, eternal, partless and true. || 4 ||

भावानामवभासकोऽसि यदि तैर्मोहः किमातन्यते
किं ते तद्यदि भान्ति हन्त भवतस्तत्राप्यखण्डं महः ।
नोचेन्नास्ति तदेवमप्युभयथा निर्व्याजनिर्यन्त्रणा-
त्रुट्यद्विभ्रमनित्यतृप्तमहिमा नित्यं प्रबुद्धोऽसि भोः ॥ ५ ॥

यदि तुम भावों के अवभासक हो तो उनके द्वारा मोह का विस्तार क्यों करते हो? यदि वे भासित होते हैं तो उससे आप का क्या लाभ? वहाँ भी आपका ही अखण्ड तेज भासित हो रहा है । यदि ऐसा नहीं है तो वह पदार्थ भी नहीं है । इस प्रकार दोनों पक्षों से तुम स्वाभाविक रूप से यन्त्रणा-रहित होकर क्रम का विनाश होने पर नित्य-तृप्त महिमावाला होकर नित्य प्रबुद्ध हो ॥ ५ ॥

bhāvānāmavabhāsako'si yadi tairmohaḥ kimātanyate
kiṃ ta tadyadi bhānti hanta bhavatastatrāpyakhaṇḍaṃ mahaḥ |

nocennāsti tadevamapyubhayathā nirvyājaniryantraṇā-
truṭyadvibhramanityatṛptamahimā nityaṃ prabuddho'si bhoḥ || 5 ||

If you are manifester of the things, why do you become confered by them? If they manifest, what are you to do with them? Of course there too your partless splendour is there, if that (splendour) is not there, it means that-that does not exist. Therefore in both of the ways, being associated with eversaturated grandeur, and illusion broken by complete natural watching (guarding) you are always awakened. || 5 ||

दृष्टिं बहिः प्रहिणु लक्ष्यपथातिरिक्तं
स्याद्भैरवानुकरणं वत वञ्चनेयम् ।
निर्द्वन्द्वबोधगगनस्य न बाह्यमस्ति
नाभ्यन्तरं निरवकाशविकासधाम्नः ॥ ६ ॥

दृष्टि को बाहर ले जाओ, लक्ष्य-मार्ग के अतिरिक्त यदि भैरव का अनुकरण करते हो तो यह केवल आत्मवञ्चना ही है । निर्द्वन्द्वबोधगगनस्वरूप आत्मतत्त्व के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है और इसी प्रकार नित्याकाश विकाश तेज के भीतर भी कुछ नहीं है ॥ ६ ॥

dṛṣṭiṃ bahiḥ prahiṇu lakṣyapathātiriktaṃ
syādbhairavānukaraṇaṃ vata vañcaneyam |
nirdvandvabodhagaganasya na bāhyamasti
nābhyantaraṃ niravakāśavikāsadhāmnaḥ || 6 ||

Take your eyes out to other than the point of goal. (if you think that) this is imitation of Bhairava, then this is delusion. There is neither in nor out of the sky of nondual consciousness which is without vacuum and abode of expansion (manifestation). || 6 ||

वासनाप्रसरविभ्रमोदये यद्यदुल्लसति तत्तदीक्ष्यताम् ।
आदिमध्यनिधनेषु तत्र चेत् भासि भासि तव लीयते जगत् ॥ ७ ॥

वासनाप्रसर के विभ्रम का उदय होने पर जो-जो उल्लसित होता है उसका ईक्षण करो । यदि तुम उस आदि, मध्य और निधन में भासित होते हो तो तुम्हारे आभास में यह संसार लीन होजाता है ॥ ७ ॥

vāsanāprasaravibhramodaye yadyadullasati tattadīkṣyatām |
ādimadhyanidhaneṣu tatra cet bhāsi bhāsi tava līyate jagat || 7 ||

After the rise of illusion of expansion of impression (Vāsanās) whatsoever shines (one) should observe that. In the beginning,

middle and end if you shine there, in your splendour the world innihilates. ॥ 7 ॥

मोहो दुःखवितर्कतर्कणघनो हेतुप्रथानन्तर-
प्रोद्यद्विभ्रमशृङ्खलातिबहुलो गन्धर्वपूःसन्निभः ।
द्वैताद्वैतविकल्पनाश्रयपदे चिद्व्योम्नि नाभाति चेत्
कुत्रान्यत्र चकास्तु कास्तु परमा निष्ठाप्यनेकात्मना ॥ ८ ॥

यह मोह दुःख के वितर्क के तर्क से व्याप्त है । हेतु के विस्तार के बाद उठनेवाली विभ्रमरूपी शृङ्खला से भरा हुआ है । साथ ही यह मोह गन्धर्वनगर के समान है । यदि यह मोह द्वैताद्वैत विकल्पना के आश्रयभूत चिदाकाश में प्रकाशित नहीं होता तो यह कहाँ प्रकाशित हो और अनेकरूप से इसकी परमनिष्ठा (अन्तिम सीमा) क्या है? ॥ ८ ॥

moho duḥkhavitarkatarkaṇaghano hetuprathānantara-
prodyadvibhramaśṛṅkhalātibahulo gandharvapūḥsannibhaḥ ।
dvaitādvaitavikalpanāśrayapade cidvyomni nābhāti cet
kutrānyatra cakāstu kāstu paramā niṣṭhāpyanekātmanā ॥ 8 ॥

Delusion is full of suffering, argument and conjecture. It is filled with the chain of falsehood which rises after the expansion of cause. It is just like imaginary city in the sky. It (the above delusion) does not manifest in many in the sky of conciousness, when should it manifest? And whichone should be the last limit? ॥ 8 ॥

स्वप्ने तावदसत्यमेव सरणं सौसुप्तधाम्नि प्रथा
नैवास्यास्ति तदुत्तरे निरुपधौ चिद्व्योम्नि कोऽस्य ग्रहः ।
जाग्रत्येव धरावदर्थनिचयः स्याच्चेत् क्षणे कुत्रचित्
ज्ञानेनाथ तदत्ययेऽपृथगिदं तत्रापि का खण्डना ॥ ९ ॥

स्वप्नावस्था में संसार असत्य है, सुषुप्तावस्था में इसका विस्तार नहीं होता । उसके ऊर्ध्ववर्ती, उपाधिरहित चिदाकाश में इसका ज्ञान नहीं होता । तात्पर्य यह है कि पार्थिव अर्थसमूह जागृत अवस्था में ही दिखलाई पड़ता है और वह भी कहीं कुछ क्षण के लिए । तत्त्वज्ञान के द्वारा इसका लोप होने पर यह परमतत्त्व से अपृथक् दिखाई देता है फिर वहाँ खण्डन की क्या बात? ॥ ९ ॥

svapne tāvadasatyameva saraṇaṃ sausuptadhāmni prathā
naivāsyāsti taduttare nirupadhau cidvyomni ko'sya grahaḥ ।
jāgratyeva dharāvadarthanicayaḥ syāccet kṣaṇe kutracit
jñānenātha tadatyaye'pṛthagidaṃ tatrāpi kā khaṇḍanā ॥ 9 ॥

The movement in the dream is untrue. In deep sleep too it does not expand. Above to it in unlimited sky of conciousness how can it exist? It in awakened state the group of the thigs like earth exists for some moments. Eventhen it is indifferent (to the conciousness) after it is refuted by true knowledge. Regarding that (knowledge) there is not further refutation. ॥ 9 ॥

ये ये केऽपि प्रकाशा मयि सति परमव्योम्नि लब्धावकाशाः
काशा ह्येतेषु नित्ये महिमनि मयि ते निर्विभागं विभान्ति ।
सोऽहं निर्व्याजनित्यप्रतिहतकलनानन्तसत्यस्वतन्त्र-
ध्वस्तद्वैताऽद्वयारिद्वयमयतिमिरापारबोधप्रकाशः ॥ १० ॥

जो कोई प्रकाश मेरे परमाकाश में प्रकाशित होते हैं वे नित्य महिमा वाले मुझमें अभिन्नरूप से प्रकाशित होते हैं । वह मैं स्वभावतः द्वैत को ध्वस्त करनेवाले अद्वैत के शत्रुस्वरूप अन्धकार के पार जानेवाला ज्ञानरूपी प्रकाश हूँ जो कि स्वभावतः नित्य रचना का विनाश करनेवाला अनन्त, सत्य और स्वतन्त्र हूँ ॥ १० ॥

ye ye ke'pi prakāśā mayi sati paramavyomni labdhāvakāśāḥ
kāśā hyeteṣu nitye mahimani mayi te nirvibhāgaṃ vibhānti ।
so'haṃ nirvyājanityapratihatakalanānantasatyasvatantra-
dhvastadvaitā'dvayāridvayamayatimirāpārabodhaprakāśaḥ ॥ 10 ॥

The other manifestations which have got a chance (to manifest) after being manifestation of myself, the final betitude, in these (manifestations) there are my appearness. They shine identically in myself who is of eternal grandeur. I am that light of couciousness which is across the darkness of dualism, the demolisher of dualism which is the enemy of nondualism, self dependent, true, limitless and naturally everdestroyer of the creation. ॥ 10 ॥

कालः सङ्कलयन्कलाः कलयतु स्त्रष्टा सृजत्वादरा-
दाज्ञायाः परतन्त्रतामुपगतो मथ्नातु वा मन्मथः ।
क्रीडाडम्बरमम्बराश्रयमिव स्वोल्लेखरेखाक्रमं
देहाद्याश्रयमस्तु वैकृतमहामोहे न पश्यामि किम् ॥ ११ ॥

काल, कला का सङ्कलन करते हुए रचना करें । स्त्रष्टा आदर के साथ सृष्टि करें । आज्ञा के परतन्त्र होकर कामदेव संसार का मन्थन करे । आकाश में देहादि के क्रीडाम्बर की तरह ऊपर आत्मा का उल्लेख रेखाक्रम हो । इस विकृत महामोह में मैं क्या नहीं देखता? (अर्थात् सब कुछ अनुभव करता हूँ) ॥ ११ ॥

kālaḥ saṅkalayankalāḥ kalayatu sraṣṭā sṛjatvādarā-
dājñāyāḥ paratantratāmupagato mathnātu vā manmathaḥ |
krīḍāḍambaramambarāśrayamiva svollekharekhākramaṃ
dehādyāśrayamastu vaikṛtamahāmohe na paśyāmi kim || 11 ||

Let the timefactor thinking over, create the kalās. Let the creater (of the universe) create with honour. Let the God get the sequence of the line of self-manifestation, just like plays in the sky, happen depending on the body. In this great delusion of vikṛti what do I not visualize (i.e. I feel every thing). || 11 ||

कः कोऽत्र भोर्यं कवलीकरोमि
कः कोत्र भोर्यं सहसा निहीन्म ।
कः कोऽत्र भोर्यं परबोधधाम-
सञ्चर्वणोन्मत्ततनुः पिबामि ॥ १२ ॥

यहाँ कौन है जिसको मैं खा जाऊँ?, यहाँ कौन है? जिसको मैं सहसा मार डालूँ? और यहाँ कौन है? जिसको परबोधधाम के सञ्चर्वणोन्मत्त शरीर वाला मैं पीजाऊँ? ॥ १२ ॥

kaḥ ko'tra bhoryaṃ kavalīkaromi
kaḥ kotra bhoryaṃ sahasā nihīnma |
kaḥ ko'tra bhoryaṃ parabodhadhāma-
sañcarvarṇonmattatanuḥ pibāmi || 12 ||

Who is here to whom I should eat? Who is here to whom I should kill suddenly? Who is here to whom? who have become of intoxicated body due to realization of the lustre of ultimate knowledge, should drink? || 12 ||

भवोत्थभयभङ्गदङ्गशृगालविद्रावणं
प्रबोधधुरिधीमतामपि सकृद्यदुद्दीपनम् ।
सुधामगहनाटवीविहरणातितृप्त्युद्धमाद्
अभेदकरिबृंहितं व्यधित रम्यदेवो हरिः ॥ १३ ॥

॥ इत्याचार्याभिनवगुप्तकृता परमार्थद्वादशिका भव्यायास्तुतराम् ॥

परमरमणीय देव भगवान् संसार में उत्पन्न भय के अङ्ग को नष्ट करनेवाले शृगाल को मारनेवाले हैं प्रबोधयुक्त बुद्धिमानों के उद्दीपन हैं । सुधामरूपी घने जङ्गल में विहार करने से अत्यन्त तृप्त होने के कारण अभेदरूपी हाथी में वे उन्नत हैं ॥ १३ ॥

bhavotthabhayabhaṅgadaṅgaśṛgālavidrāvaṇaṃ
prabodhadhuridhīmatāmapi sakṛdyaduddīpanam I
sudhāmagahanāṭavīviharaṇātitṛptyudgamād
abhedakaribṛṃhitaṃ vyadhita ramyadevo hariḥ II 13 II

II ityācāryābhinavaguptakṛtā paramārthadvādaśikā bhavyāyāstutarām II

...෴...

That which drives away the jacal of protector of destruction of the terror caused by the world, that which is the instigater of even those wise persons who are loaded with enlightenment, to that the lustrous God who is like lion, made developed by the elephant of nonduslism, due to rise of extreme saturation of wondering in the dense forest of eternal bliss. II 13 II

II Thus the Paramārthadvādaśikā of Abhinavagupta-pādācārya comes to an end II

...෴...

परमार्थचर्चा
Paramārthacarcā

[इस स्तोत्र में कुल आठ श्लोक हैं । इसमें भी परमार्थ अर्थात् शिव का वर्णन है । वही विश्व का सर्वोत्कृष्ट प्रकाश है और उसी की वैचित्र्यपूर्णशक्ति में ग्राह्य और ग्रहीता का भेद प्रतीत होता है । परमशिव के अन्दर ही यह सम्पूर्ण विश्व और सम्पूर्ण पदार्थ अपने अस्तित्त्व को प्राप्त करते हैं । यह देश, कालादि की सीमा से रहित है । अभिनवगुप्त का कथन है कि अन्य चिन्ताओं से मुक्त मोक्षपद को प्राप्त करने के जो अभिलाषी जन इन सात श्लोकों को सामूहिक रूप से अपने हृदय में स्मरण करते हैं वे भैरव, परधाम, मोक्ष अथवा शिवपद को बारम्बार प्राप्त होते हैं ।

Eight verses lie in this stotra. Description of the highest consciousness (i.e. Parama Śiva or Paramārtha) has also been done here, that All Inclusive-Universal Consciousness is the excellent light of the whole universe. The difference of knowable and knower takes place in the very strange power of the Śiva. This entire universe and all the things get their existence merely in Him. This Śiva is beyond all approaches, place and time etc., even thought and dream as well. Those persons desirous to get liberation, being free of all other anxieties should remember these seven verses together in their heart to attain the place of Lord Śiva (Bhairava, paradhāma, liberation) again and again.]

अर्केन्दुदीपाद्यवभासभिन्नं नाभात्यतिव्याप्ततया ततश्च ।
प्रकाशरूपं तदियत् प्रकाश्यप्रकाशताख्या व्यवहार एव ॥ १ ॥

चरमतत्त्व सूर्य, चन्द्रमा दीपादि के प्रकाश से भिन्न प्रतीत नहीं होता इसलिए यह किसी से अतिव्याप्त नहीं प्रतीत होता है । यह उसी प्रकार का प्रकाशरूप चैतन्य ही है । प्रकाश और प्रकाश्यता नामक व्यवहार जगत् में ही होता है ॥ १ ॥

arkendudīpādyavabhāsabhinnaṃ nābhātyativyāptatayā tataśca |
prakāśarūpaṃ tadiyat prakāśyaprakāśatākhyā vyavahāra eva || 1 ||

(Ultimate Reality is) different from the light of the sun, the moon and lamp etc. That is why it does not seem to be over-

pervaded. That is of the form of light (conciousness). The limited lightness of the lightable is in practical world (and not the Ultimate). ॥ 1 ॥

ज्ञानाद्विभिन्नो न हि कश्चिदर्थः
तत्तत्कृतः संविदि नास्ति भेदः ।
स्वयम्प्रकाशाच्छतमैकधाम्नि
प्रातिस्विकी नापि विभेदिता स्यात् ॥ २ ॥

कोई भी पदार्थ ज्ञान से भिन्न नहीं है तो उसके द्वारा किया गया भेद संवित् में नहीं है और असंख्य तेजवाले इस तत्त्व में स्वयं प्रकाश से अतिरिक्त अपना भेद नहीं है ॥ २ ॥

jñānādvibhinno na hi kaścidarthaḥ
tattatkṛtaḥ saṃvidi nāsti bhedaḥ ।
svayamprakāśācchatamaikadhāmni
prātisvikī nāpi vibheditā syāt ॥2 ॥

Nothing is different from knowledge. In saṁvid, there is not any difference caused by individual thing. There is not identical difference from selfluminous, which is innumeral in one lustre. ॥ 2 ॥

इत्थं स्वसंविद्घन एक एव शिवः स विश्वस्य परः प्रकाशः ।
तत्रापि भात्येव विचित्रशक्तौ ग्राह्यगृहीतृप्रविभागभेदः ॥ ३ ॥

इस प्रकार स्वसंविद्घन शिव एक ही है । वह विश्व का सर्वोत्कृष्ट प्रकाश है । उस विचित्र शक्ति में ही ग्राह्य और ग्रहीता का विभागरूपी भेद प्रतीत होता है ॥ ३ ॥

itthaṃ svasaṃvidghana eka eva śivaḥ sa viśvasya paraḥ prakāśaḥ ।
tatrāpi bhātyeva vicitraśaktau grāhyagṛhītṛpravibhāgabhedaḥ ॥ 3 ॥

This Śiva, who is compact selfconscious, is only one. He is the ultimate illuminater of the universe. In that strange power the difference of classification of knowable and knower manifests. ॥ 3 ॥

भेदः स चायं न ततो विभिन्नः स्वच्छन्दसुस्वच्छतमैकधाम्नः ।
प्रासादहस्त्यश्वपयोदसिन्धुगिर्यादि यद्वन्मणिदर्पणादेः ॥ ४ ॥

यह भेद स्वच्छन्द, स्वच्छमात्र तेज से भिन्न नहीं है । यह उसी प्रकार भिन्न नहीं है जैसे कि मणि अथवा दर्पणादि में प्रतिबिम्बित होनेवाले प्रासाद, हाथी, घोड़ा, बादल, समुद्र, पर्वत आदि मणिदर्पणादि से भिन्न नहीं होते हैं ॥ ४ ॥

bhedaḥ sa cāyaṃ na tato vibhinnaḥ svacchandasusvacchatamaikadhāmnaḥ |
prāsādahastyaśvapayodasindhugiryādi yadvanmaṇidarpaṇādeḥ || 4 ||

This difference is not different from that lustre which is selfmotivated, Quiet clean and alone. (This difference is) reflections just like those of palace, elephant, horse, cloud ocean and mountain etc. in the gem, mirror etc. || 4 ||

आदर्शकुक्षौ प्रतिबिम्बकारि सबिम्बकं स्याद्यदि मानसिद्धम्।
स्वच्छन्दसंविन्मुकुरान्तराले भावेषु हेत्वन्तरमस्ति नान्यत्॥ ५ ॥

दर्पण के अन्दर प्रतिबिम्बित होनेवाले पदार्थ बिम्ब के साथ होते हैं । यदि यह प्रमाण सिद्ध है तो स्वच्छन्द संविद्रूपी दर्पण के अन्दर प्रतीत होनेवाले भावों का कोई दूसरा कारण नहीं है, यह भी प्रमाणसिद्ध है ॥ ५ ॥

ādarśakukṣau pratibimbakāri sabimbakaṃ syādyadi mānasiddham |
svacchandasaṃvinmukurāntarāle bhāveṣu hetvantaramasti nānyat || 5 ||

Inside the mirror, the reflection is caused by bimba (reflected one) and if this is decided with proof, the things which one realized in) the mirror of self motivated conciousness, there is not any cause behind it. || 5 ||

संविद्घनस्तेन परस्त्वमेव त्वय्येव विश्वानि चकासति द्राक्।
स्फुरन्ति च त्वन्महसः प्रभावात् त्वमेव चैषां परमेशकर्त्ता ॥ ६ ॥

इसलिए तुम्हीं संविद्घन परतत्त्व हो, तुम्हारे ही अन्दर यह विश्व प्रकाशित होता है । तुम्हारे तेज के प्रभाव से सम्पूर्ण पदार्थ स्फुरित होते हैं और तुम्हीं इनके परमेश्वर कर्त्ता हो ॥ ६ ॥

saṃvidghanastena parastvameva tvayyeva viśvāni cakāsati drāk |
sphuranti ca tvanmahasaḥ prabhāvāt tvameva caiṣāṃ parameśakartā || 6 ||

Therefore the ultimate compact conciousness is you only and verily in yourself the whole universe is to be manifested suddenly. The things menifest due to the influence of your lustre and verily you are the doer of all, O Ultimate lord! of these (manifestations). || 6 ||

इत्थं स्वसंवेदनमादिसिद्धमसाध्यमात्मानमनीशमीशम् ।
स्वशक्तिसम्पूर्णमदेशकालं नित्यं विभुं भैरवनाथमीडे ॥ ७ ॥

मैं इस प्रकार के स्वसंवेदनस्वरूप, आदिसिद्ध, असाध्य, अनीश, ईश्वरस्वरूप आत्मा जो कि अपनी शक्ति से सम्पूर्ण है और देश-काल की सीमा से रहित है, ऐसे नित्य, व्यापक, भैरवनाथ की स्तुति करता हूँ ॥ ७ ॥

itthaṃ svasaṃvedanamādisiddhamasādhyamātmānamanīśamīśam |
svaśaktisampūrṇamadeśakālaṃ nityaṃ vibhuṃ bhairavanāthamīḍe || 7 ||

I pray lord Bhairava who is selfawareness substantiated in the beginning, improvable, self, without governer, full of selfpower, beyond place (space) and time, eternal and pervasive. || 7 ||

सद्वृत्तसप्तकमिदं गलितान्यचिन्ताः
सम्यक् स्मरन्ति हृदये परमार्थकामाः ।
ते भैरवीयपरधाम मुहुर्विशन्ति
जानन्ति च त्रिजगतीपरमार्थचर्चाम् ॥ ८ ॥

॥ इति श्रीमदभिनवगुप्तविरचिता परमार्थचर्चा समाप्ता ॥

अन्य चिन्ताओं से मुक्त परमार्थ चाहनेवाले जो लोग इस सात छन्दों के समूह का हृदय में स्मरण करते हैं वे भैरवीय परधाम को बारम्बार प्राप्त होते हैं और तीनों लोकों की परमार्थ चर्चा को जानते हैं ॥ ८ ॥

sadvṛttasaptakamidaṃ galitānyacintāḥ
samyak smaranti hṛdaye paramārthakāmāḥ |
te bhairavīyaparadhāma muhurviśanti
jānanti ca trijagatīparamārthacarcām || 8 ||

|| iti śrīmadabhinavaguptaviracitā paramārthacarcā samāptā ||

Those who have become free from other anxieties and are desirous of the highest truth, if remember this group of seven verses related to the character of final entity, they again go to ultimate goal of Bhairava and know ultimate discussion about three regions. || 8 ||

|| Thus the Paramārthacarcā of Abhinavagupta-pādācārya comes to an end ||

महोपदेशविंशतिकम्

Mahopadeśaviṁśatikam

[इस स्तोत्र में कुल बीस श्लोकों का संग्रह है । इसमें सच्चिदानन्दरूप, सम्पूर्ण प्रपञ्चों से रहित, विश्वस्वरूप और अनन्त शक्तिवाले आत्मतत्त्व का वर्णन है । आत्मा और परमात्मा अर्थात् परमशिव में रञ्चमात्र भी भेद नहीं है । यह उस परम चैतन्य का ही विस्तार है । अभिनवगुप्तपादाचार्य का कथन है कि शरीर, जगत् आदि के अन्दर-बाहर, सर्वत्र तुम्ही हो और कुछ नहीं है । आपकी मायारूपी शक्ति के कारण मुझमें, तुममें और इसमें अर्थात् जगत् में भेद प्रतीत होता है । परमार्थतः सर्वत्र तुम्हारा ही प्रकाश है और सम्पूर्ण पदार्थ तुम्हीं से प्रकाशित है । उस परमशिव अर्थात् परम चैतन्य की दो अवस्थायें होती हैं एक विश्वमय और दूसरी विश्वोत्तीर्ण । मैं, तुम और यह सम्पूर्ण विश्व उसी का लीला विलास है ।

This Stotra contains twenty verses. The transcendental form of Lord Śiva is described herein. There is absolutely no difference between the Self and Supreme self (i.e. Parama Śiva) what ever difference seems in both of them that is only because of His illusive power. In the real sense, all the worldly and non worldly things are enlightened because of His ever-lasting light. I, you and this entire universe is sportive creation of Lord Śiva.]

प्रपञ्चोत्तीर्णरूपाय नमस्ते विश्वमूर्तये ।
सदानन्दप्रकाशाय स्वात्मनेऽनन्तशक्तये ॥ १ ॥

मैं प्रपञ्चोत्तीर्णस्वरूप, विश्वमूर्ति, सदानन्द, प्रकाश तथा अनन्त शक्तिवाले अपने आत्मतत्त्व को नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

prapañcottīrṇarūpāya namaste viśvamūrtaye I
sadānandaprakāśāya svātmane'nantaśaktaye II 1 II

I salute to you the individual self who is transcendent to the phenomenon, embodiment of the universe, eternal bliss with conciousness, and full of limitless power. II 1 II

त्वं त्वमेवाहमेवाहं त्वमेवासि न चास्म्यहम् ।
अहं त्वमित्युभौ न स्तो यत्र तस्मै नमो नमः ॥ २ ॥

तुम तुम्हीं हो, मैं मैं ही हूँ, तुम भी नहीं हो, मैं भी नहीं हूँ । मैं और तुम दोनों नहीं हैं । ऐसी स्थिति जिसमें होती है उस तत्त्व को बारम्बार नमस्कार है ॥ २ ॥

tvaṃ tvamevāhamevāhaṃ tvamevāsi na cāsmyaham |
ahaṃ tvamityubhau na sto yatra tasmai namo namaḥ || 2 ||

You are you and I am I. You are (here and there) not I, where you and I both don't exist, to that here I salute Him. || 2 ||

अन्तर्देहे मया नित्यं त्वमात्मा च गवेषितः ।
न दृष्टस्त्वं नचैवात्मा यच्च दृष्टं त्वमेव तत् ॥ ३ ॥

शरीर के अन्दर मैंने नित्य तुम स्वरूप आत्मा का गवेषण किया । न तुम दिखाई दिये और न आत्मा दिखायी दी, जो दिखायी दिया वह तुम्हीं हो ॥३॥

antardehe mayā nityaṃ tvamātmā ca gaveṣitaḥ |
na dṛṣṭastvaṃ nacaivātmā yacca dṛṣṭaṃ tvameva tat || 3 ||

Eternal you and the self are searched by me inside the body. Neither you were visible nor the self, what is visualized you are the same. || 3 ||

भवद्भक्तस्य सञ्जातभवद्रूपस्य मेऽधुना ।
त्वामात्मरूपं सम्प्रेक्ष्य तुभ्यं मह्यं नमो नमः ॥ ४ ॥

आपका भक्त मैं, अब आपका स्वरूप होगया हूँ । तुमको आत्मस्वरूप (भलीभाँति) देखकर मैं तुमको और स्वयं को बारम्बार नमस्कार कर रहा हूँ ॥४॥

bhavadbhaktasya sañjātabhvadrūpasya me'dhunā |
tvāmātmarūpaṃ samprekṣya tubhyaṃ mahyaṃ namo namaḥ || 4 ||

I am your devotee and now I have become identical to you. Having realized you self as myself there is salutation to you and me. || 4 ||

एतद्वचननैपुण्यं यत्कर्तव्येतिमूलया[१] ।
भवन्मायात्मनस्तस्य केन कस्मिन् कुतो लयः ॥ ५ ॥

इस प्रकार के वचन की निपुणता मेरा कर्त्तव्य है । आपकी माया से मोहित उसका किसके द्वारा, किसमें, क्यों लय होगा? ॥ ५ ॥

etadvacananaipuṇyaṃ yatkartavyetimūlayā |
bhavanmāyātmanastasya kena kasmin kuto layaḥ || 5 ||

---

१. मत्कर्त्तव्यं हि मूलतः ।

This type of proficiency in speech is basically my duty. (He who thinks like this) is influenced by your Māyā (illusive power) of him where can be (should be) the assimilation (identification) by whom and why? ॥ 5 ॥

अहं त्वं त्वमहं चेति भिन्नता नावयोः क्वचित्।
समाधिग्रहणेच्छाया भेदस्यावस्थितिर्ह्यसौ ॥ ६ ॥

मैं तुम हो और तुम मैं हूँ। इस प्रकार हम दोनों में कोई भेद नहीं है। समाधिग्रहण की इच्छावाले के लिए यह भेद की स्थिति होती है ॥ ६ ॥

ahaṃ tvaṃ tvamahaṃ ceti bhinnatā nāvayoḥ kvacit ।
samādhigrahaṇecchāyā bhedasyāvasthitirhyasau ॥ 6 ॥

I am you and you are I. Thus there is no difference between you and I any where. This entity of difference is the desire for holding meditation (samādhi). ॥ 6 ॥

त्वमहं सोयमित्यादि नूनं तानि सदा त्वयि ।
न लभन्ते चावकाशं वचनानि कुतो जगत् ॥ ७ ॥

तुम, मैं, वह और यह इत्यादि वचन तुम्हारे अन्दर कभी स्थान नहीं पाते पुनः संसार की क्या बात? ॥ ७ ॥

tvamahaṃ soyamityādi nūnaṃ tāni sadā tvayi ।
na labhante cāvakāśaṃ vacanāni kuto jagat ॥ 7 ॥

You, I, that this etc. words certainly do not get a place in you. What to speak about the world. ॥ 7 ॥

अलं भेदानुकथया त्वद्भक्तिरसचर्वणात् ।
सर्वमेकमिदं शान्तमिति वक्तुं च लज्जते ॥ ८ ॥

तुम्हारे और हमारे अन्दर भेद की बात व्यर्थ है। आपकी भक्ति के रस का आस्वादन करने के कारण यह सब एक है, शान्त है, यह कहने में भी मेरा मन लज्जित होता है ॥ ८ ॥

alaṃ bhedānukathayā tvadbhaktirasacarvaṇāt ।
sarvamekamidaṃ śāntamiti vaktuṃ ca lajjate ॥ 8 ॥

To speak difference (between you and I) is improper. Due to relish of sentiment of your devotion, all this is one and quiescent to say this (my mind) feels shame. ॥ 8 ॥

त्वत्स्वरूपे जृम्भमाणे त्वं चाहं चाखिलं जगत्।
जाते तस्य तिरोधाने न त्वं नाहं न वै जगत् ॥ ९ ॥

आपके स्वरूप का विस्तार होने पर आप, मैं और संसार की स्थिति बनती है और उस स्वरूप का तिरोधान होने पर न तुम होते हो, न मैं और न यह जगत् ॥ ९ ॥

tvatsvarūpe jṛmbhamāṇe tvaṃ cāhaṃ cākhilaṃ jagat |
jāte tasya tirodhāne na tvaṃ nāhaṃ na vai jagat || 9 ||

When your identity expands then there are you I and the whole world. After its disappearance there are neither you nor I nor the world. || 9 ||

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याद्या धारयंश्च निजाः कलाः ।
स्वेच्छया भासि नटवन् निष्कलोऽसि च तत्त्वतः ॥ १० ॥

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अपनी कलाओं को धारण करते हुए आप स्वेच्छा से नट के समान मालुम पड़ते हैं । यथार्थतः तो आप निष्कल हैं ॥ १०॥

jāgratsvapnasuṣuptyādyā dhārayaṃśca nijāḥ kalāḥ |
svecchayā bhāsi naṭavan niṣkalo'si ca tattvataḥ || 10 ||

(You) having your own prowess named wake dream and deep sleep etc. manifest at your own accordance like actor. To speak really you are without prowess. || 10 ||

त्वत्प्रबोधात् प्रबोधोऽस्य त्वन्निद्रातो लयोऽस्य यत् ।
अतस्त्वदात्मकं सर्वं विश्वं सदसदात्मकम् ॥ ११ ॥

तुम्हारे जागने से जो इस संसार का आविर्भाव होता है, तुम्हारे निद्रायुक्त होने पर इसका लय होता है । अतः यह सदसदात्मक सम्पूर्ण संसार आप से अभिन्न है ॥ ११ ॥

tvatprabodhāt prabodho'sya tvannidrāto layo'sya yat |
atastvadātmakaṃ sarvaṃ viśvaṃ sadasadātmakam || 11 ||

Due to your awaking there is a waking (manifestation) of the world. Due to your slumber there is sleep (disappearance) of it. Therefore all this existing and non-existing world is identical to you. || 11 ||

जिह्वा श्रान्ता भवन्नाम्नि मनः श्रान्तं भवत्स्मृतौ ।
अरूपस्य कुतो ध्यानं निर्गुणस्य च नाम किम् ॥ १२ ॥

आपका नाम खोजते-खोजते जिह्वा थक गयी, आपका स्मरण करते-करते मन थक गया । (कारण) अरूप का ध्यान कैसे हो सकता है? और निर्गुण का क्या नाम हो सकता है? ॥ १२ ॥

jihvā śrāntā bhavannāmni manaḥ śrāntaṃ bhavatsmṛtau |
arūpasya kuto dhyānaṃ nirguṇasya ca nāma kim || 12 ||

The tongue is tired in (search of) your name. Mind is tired in (search of) your rememberance. How a formless can be meditated and what can be the name of that which is beyond merit (quality, property). || 12 ||

पूर्णस्यावाहनं कुत्र सर्वाधारस्य चासनम् ।
स्वच्छस्य पाद्यमर्घ्यञ्च शुद्धस्याचमनं कुतः ॥ १३ ॥

पूर्ण का आवाहन कहाँ और सबके आधार का आसन कहाँ? सर्वथा स्वच्छ के लिए पाद्य और अर्घ्य कहाँ? और शुद्ध के लिए आचमन कहाँ? ॥१३॥

pūrṇasyāvāhanaṃ kutra sarvādhārasya cāsanam |
svacchasya pādyamarghyañca śuddhasyācamanaṃ kutaḥ || 13 ||

Where the perfect (allpervasive) can be called and where is the seat of base the all. How pādya and arghya is possible for neat and clean. That which is pure, how ācamana can be offered for him i.e. there is no need of all these things. || 13 ||

निर्मलस्य कुतः स्नानं वस्त्रं विश्वोदरस्य च ।
निर्लेपस्य कुतो गन्धो रम्यस्याभरणं कुतः ॥ १४ ॥

निर्मल के लिए स्नान कहाँ? जिसके उदर में विश्व समाया हुआ है उसके लिए वस्त्र कहाँ? निर्लेप के लिए गन्ध और सर्वथा, स्वभावतः रमणीय के लिए अलङ्कार कैसा? ॥ १४ ॥

nirmalasya kutaḥ snānaṃ vastraṃ viśvodarasya ca |
nirlepasya kuto gandho ramyasyābharaṇaṃ kutaḥ || 14 ||

What is the use of bath for the dirtless. The cloth is usless for him in whose belly exists the whole world. What is the use of insence for him who is without smearing. The ornament is useless for him who is naturally beautiful. (i.e. there is no requirement of all such these things for Him)|| 14 ||

निरालम्बस्योपवीतं पुष्पं निर्वासनस्य च ।
अप्राणस्य कुतो धूपश्चक्षुर्हीनस्य दीपकः ॥ १५ ॥

निरालम्ब के लिए उपवीत, निर्गन्ध के लिए पुष्प, प्राणरहित के लिए धूप और चक्षुहीन के लिए दीपक कैसा? ॥ १५ ॥

nirālambasyopavītaṃ puṣpaṃ nirvāsanasya ca |
aprāṇasya kuto dhūpaścakṣurhīnasya dīpakaḥ || 15 ||

Upavīta for baseless. Flower for smellless, insense for breathless, dīpa i.e. lamp for eyeless is useless. ‖ 15 ‖

नित्यतृप्तस्य नैवेद्यं ताम्बूलं च कुतो विभोः ।
प्रदक्षिणमनन्तस्याऽद्वितीयस्य कुतो नतिः ॥ १६ ॥

नित्यतृप्त के लिए नैवेद्य, सर्वव्यापी के लिए ताम्बूल, अनन्त के लिए प्रदक्षिणा और अद्वितीय के लिए प्रणाम कैसा? ॥ १६ ॥

nityatṛptasya naivedyaṃ tāmbūlaṃ ca kuto vibhoḥ ।
pradakṣiṇamanantasyā'dvitīyasya kuto natiḥ ‖ 16 ‖

Naivedya for eternally saturated (is useless). Betalleaf for allpervasive is what for. Pradakṣiṇā of whom who is limitless. How to bow down before nondual. ‖ 16 ‖

स्वयं प्रकाशमानस्य कुतो नीराजनं विभोः ।
वेदवाचामवेद्यस्य कुतः स्तोत्रं विधीयते ॥ १७ ॥

स्वयं प्रकाशमान व्यापक के लिए नीराजन (आरती) कहाँ? वैदिक वाणी के द्वारा अवेद्य के लिए स्तोत्र का विधान कैसे हो सकता है? ॥ १७ ॥

svayaṃ prakāśamānasya kuto nīrājanaṃ vibhoḥ ।
vedavācāmavedyasya kutaḥ stotraṃ vidhīyate ‖ 17 ‖

Who is selfluminous and pervasive how Nīrājana (Āratī) is possible for him. How the prayers are possible of him who is beyond the approach of Vedic speech. ‖ 17 ‖

अन्तर्बहिश्च पूर्णस्य कथमुद्वासनं भवेत् ।
भेदहीनस्य विश्वत्र कथं च हवनं भवेत् ॥ १८ ॥

जो अन्दर एवं बाहर दोनों प्रकार से परिपूर्ण है उसका विसर्जन कैसे हो सकता है? और सर्वत्र भेदहीन के लिए हवन कैसे सम्भव है? ॥ १८ ॥

antarbahiśca pūrṇasya kathamudvāsanaṃ bhavet ‖
bhedahīnasya viśvatra kathaṃ ca havanaṃ bhavet ‖ 18 ‖

Who is perfect from inside and outside, how to say goodbye to him. Who is without difference and everywhere, how Havana can be done for him. ‖ 18 ‖

पूर्णस्य दक्षिणा कुत्र नित्यतृप्तस्य तर्पणम् ।
विसर्जनं व्यापकस्याऽप्रत्यक्षस्य क्षमापणम् ॥ १९ ॥

पूर्ण के लिए दक्षिणा कैसी? नित्यतृप्त के लिए तर्पण कैसा? व्यापक के लिए विसर्जन और अप्रत्यक्ष से क्षमायाचन कैसा? ॥ १९ ॥

pūrṇasya dakṣiṇā kutra nityatṛptasya tarpaṇam I
visarjanaṃ vyāpakasyā'pratyakṣasya kṣamāpaṇam II 19 II

How donation can be given to him who is perfect. Similarly how saturation can be possible for eversaturated. How to send out him who is pervasive. How pardon can be begged too, who is invisible. II 19 II

एवमेव परा पूजा सर्वावस्थासु सर्वदा ।
ऐक्यबुद्ध्या तु सर्वेशे मनो देवे नियोजयेत् ॥ २० ॥

॥ इति महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तकृतं महोपदेशविंशतिकम् ॥

इस प्रकार सभी अवस्थाओं में सर्वदा परापूजा करनी चाहिए और सबके ईश्वरभूत महादेव में ऐक्यबुद्धि से मन को नियोजित करना चाहिऐ ॥ २० ॥

evameva parā pūjā sarvāvasthāsu sarvadā I
aikyabuddhyā tu sarveśe mano deve niyojayet II 20 II
II iti mahāmāheśvarācāryābhinavaguptakṛtaṁ
mahopadeśaviṁśatikam II

This, in all condition always Parāpūjā should be done. The mind should be engaged with identical thinking in God who is lord of all. II 20 II

II Thus the Mahopadeśaviṁśatikam of Abhinavagupta-pādācārya comes to an end II

क्रमस्तोत्रम्
Kramastotram

[इसमें कुल तीस श्लोक हैं किन्तु तीसवाँ श्लोक आचार्य अभिनवगुप्त के द्वारा रचित इस स्तोत्र के समय का ज्ञान कराता है । इस प्रकार केवल उन्तिस श्लोक ही वास्तविक रूप से 'क्रमस्तोत्र' से सम्बद्ध हैं । काश्मीर की घाटी में तीन प्रकार की दर्शन विद्या प्रवाहित थी—क्रम, कुल और प्रत्यभिज्ञा । इस दर्शन के अनुसार मुक्ति क्रमिक है । यह सहसा नहीं प्राप्त की जासकती । अपनी सम्पूर्ण अन्तः एवं बाह्य क्रियाओं और विचारों को पूर्णतः शुद्ध करके क्रमशः मोक्ष को अथवा शिवत्व को प्राप्त किया जासकता है । काश्मीर शैव दर्शन में प्रतिपादित चारों उपायों में शाक्तोपाय को मान्यता देनेवाला दर्शन है । मन्त्रोच्चारण, ध्यान, समाधि, जप, तप, व्रतानुष्ठानादि ही वे क्रमिक अवस्थायें हैं जिनसे मुक्ति प्राप्त की जासकती है ।

There are thirty verses in this stotra but the 30th verse indicates the time of its composition. Thus twenty nine ślokas are related to this stotra. Three philosophic learning systems were current in the valley of Kāśmīra, namely the Krama, the Kula and the Pratyabhijñā. This Krama system is distinct from the other two systems. Krama philosphy is the exponent of Śāktopāya and asserts that the purification of determinate idea is one of the means to liberation and that there are stages through which the determinate idea has to pass in order to attain perfect purity or clarity.]

अयं दुःखव्रातव्रतपरिगमे पारणविधि-
महासौख्यासारप्रसरणरसे दुर्दिनमिदम् ।
यदन्यन्यक्कृत्या विषमविशिखप्लोषणगुरो-
र्विभोः स्तोत्रे शश्वत्प्रतिफलति चेतो गतभयम् ॥ १ ॥

दुःख के समूहरूपी व्रत के समाप्त होने पर यह पारणविधि है । महासुख के समूह के प्रसरण रस के विषय में यह दुर्दिन है कि अन्य सभी को तिरस्कृत कर मेरा मन निर्भय होकर कष्टरूपी बाणों को नष्ट करनेवाले गुरु भगवान् शङ्कर के स्तोत्र में निरन्तर लगा हुआ है ॥ १ ॥

ayaṃ duḥkhavrātavrataparigame pāraṇavidhi-
rmahāsaukhyāsāraprasaraṇarase durdinamidam |
yadanyanyakkratyā viṣamaviśikhaploṣaṇaguro-
rvibhoḥ stotre śaśvatpratiphalati ceto gatabhayam || 1 ||

This is conclusion after the end of the fast of the group of suffering, this is bad day after the relish of flowing current of great pleasure, that the mind being free from fear and having discorded others, always engages of self in the prayer of alpervasive and expert in burning the arrows of disasters. || 1 ||

विमृश्य स्वात्मानं विमृशति पुनः स्तुत्यचरितं
तथा स्तोता स्तोत्रे प्रकटयति भेदैकविषये ।
विमृष्टश्च स्वात्मा निखिलविषयज्ञानसमये
तदित्थं त्वत्स्तोत्रेऽहमिह सततं यत्नरहितः ॥ २ ॥

कोई भी स्तोता अपने विषय में विचार कर पुनः स्तुत्यचरितवाले भगवान् का विमर्श करता है तो इस प्रकार वह स्तोत्र में भेद प्रकट करता है और जब सम्पूर्ण विषय के ज्ञान के समय में अपनी आत्मा का विमर्श होता है तो हे भगवान्! इस प्रकार तुम्हारे स्तोत्र में मैं यत्नरहित हो जाता हूँ ॥ २ ॥

vimṛśya svātmānaṃ vimṛśati punaḥ stutyacaritaṃ
tathā stotā stotre prakaṭayati bhedaikaviṣaye |
vimṛṣṭaśca svātmā nikhilaviṣayajñānasamaye
tadittham tvatstotre'hamiha satataṃ yatnarahitaḥ || 2 ||

Having thought over his ownself (the man) thinks about the character of praiseworthy. In this way the laudater manifests himself in the prayer which is an object of diversity. (Thus) at the time of knowledge of all the objects, the self is thought over. In this way in our praise I am always engaged without effort. || 2 ||

अनामृष्टः स्वात्मा न हि भवति भावप्रमितिभाक्
अनामृष्टः स्वात्मेत्यपि हि न विनाऽऽमर्शनविधेः ।
शिवश्चासौ स्वात्मा स्फुरदखिलभावैकसरस-
स्ततोऽहं त्वत्स्तोत्रे प्रवणहृदयो नित्यसुखितः ॥ ३ ॥

जिस आत्मा का विमर्श नहीं हुआ वह आप (ज्ञान) की प्रभा का विषय नहीं बनता और बिना आमर्श के आत्मा अनामृष्ट रहता है । शिव और आत्मा दोनों जब स्फुरणयुक्त समस्तभावों से एकरस होजाते हैं तो हे भगवान्! तब मैं प्रणवहृदयवाला होकर आपके स्तोत्र में नित्यसुःखी होता हूँ ॥ ३ ॥

anāmṛṣṭaḥ svātmā na hi bhavati bhāvapramitibhāk
anāmṛṣṭaḥ svātmetyapi hi na vinā''marśanavidheḥ |
śivaścāsau svātmā sphuradakhilabhāvaikasarasa-
stato'haṃ tvastotre pravaṇahṛdayo nityasukhitaḥ || 3 ||

Unthought self does not become the object of adoration. The self is not thought over this (thought) also is impossible without thinking. This individual self is Śiva Himself and at the same time impassioned with the arising idea of all (I am). That is why I who is everhappy, am inclined by heart in your prayer. || 3 ||

विचित्रैर्जात्यादिभ्रमणपरिपाटीपरिकरै-
रवाप्तं सार्वज्ञं हृदय यदयत्नेन भवता ।
तदन्तस्त्वद्वोधप्रसरसरणीभूतमहसि
स्फुटं वाचि प्राप्य प्रकटय विभोः स्तोत्रमधुना ॥ ४ ॥

हे हृदय! विचित्र जन्मादि में भ्रमण परम्परा के विचित्र समूह के द्वारा जो आपने बिना प्रयत्न के सर्वज्ञता प्राप्त करली, उस अपने बोधप्रसरण की सरणीभूत तेज में तुम अब मेरी वाणी में परमात्मा के स्तोत्र को प्रकट करो ॥ ४ ॥

vicitrairjātyādibhramaṇaparipāṭīparikarai-
ravāptaṃ sārvajñaṃ hṛdaya yadayatnena bhavatā |
tadantastvadvodhaprasarasaraṇībhūtamahasi
sphuṭaṃ vāci prāpya prakaṭaya vibhoḥ stotramadhunā || 4 ||

O my heart! Omniscience which you have got without effort, due to strange system of wandering in birth (life-death) etc. now having got that in speech which is lustrous due to expansion of your inner awareness, (you) express that in the form of prayer of alpervasive. || 4 ||

विधुन्वानो बन्धाभिमतभवमार्गस्थितिमिमां
रसीकृत्यानन्तस्तुतिहुतवहप्लोषितभिदाम् ।
विचित्रस्वस्फारस्फुरितमहिमारम्भरभसात्
पिबन् भावानेतान् वरद मदमत्तोऽस्मि सुखितः ॥ ५ ॥

हे प्रभो! हे वरदान देनेवाले भगवान्! मैं बन्धन के रूप में आकस्मिक संसार की इस मार्गस्थिति को नष्ट करता हुआ, अनन्त स्तुतिरूपी अग्नि में भेद को जलाकर सरस बनाता हुआ विचित्र आत्मस्फुरण के द्वारा स्फुरित महिमा के आरम्भ के वेग से इन भावों का पान करता हुआ सुखी और मदमत्त हूँ ॥ ५ ॥

vidhunvāno bandhābhimatabhavamārgasthitimimāṃ
rasīkṛtyānantastutihutavahaploṣitabhidām ।
vicitrasvasphārasphuritamahimārambharabhasāt
piban bhāvānetān varada madamatto'smi sukhitaḥ ॥ 5 ॥

Destroying this condition of worldly tradition which is accepted as bondage; having enjoyed limitless prayers which are like fire to burn diversity; I, O boon granter!, drinking these sentiments caused by flow of beginning of grandeur, come out of strange selfexpansion, am happy and intoxicated by wine. ॥ 5 ॥

भवप्राज्यैश्वर्यप्रथितबहुशक्तेर्भगवतो
विचित्रं चरित्रं हृदयमधिशेते यदि ततः ।
कथं स्तोत्रं कुर्यादथ च कुरुते तेन सहसा
शिवैकात्म्यप्राप्तौ शिवनतिरुपायः प्रथमकः ॥ ६ ॥

संसार के विपुल ऐश्वर्य के रूप में विस्तृत बहुत शक्तिवाले भगवान् का विचित्र चरित्र यदि हृदय में विराजमान हो तो ऐसा मनुष्य कैसे स्तुति करे? और यदि करता है तो शिव से एकात्म्य भाव की प्राप्ति के विषय में शिव को प्रणाम पहला उपाय है ॥ ६ ॥

bhavaprājyaiśvaryaprathitabahuśakterbhagavato
vicitraṃ caritraṃ hṛdayamadhiśete yadi tataḥ ।
kathaṃ stotraṃ kuryādatha ca kurute tena sahasā
śivaikātmyaprāptau śivanatirupāyaḥ prathamakaḥ ॥ 6 ॥

If unique character of God whose limitless power is expressed by immense supremacy of the world, lies in the heart, then how (a man) can pray (to him) and if he does it then regarding sudden achievement of identity with Śiva, the first means is obeisance to Śiva. ॥ 6 ॥

ज्वलद्रूपं भास्वत्पचनमथ दाहं प्रकटनम्
विमुच्यान्यद्वह्नेः किमपि घटते नैव हि वपुः ।
स्तुवे संविद्रश्मीन् यदि निजनिजांस्तेन स नुतो
भवेन्नान्यः कश्चिद् भवति परमेशस्य विभवः ॥ ७ ॥

जलना, चमकना, पकाना, जलाना और प्रकाश करना इन सबको छोड़कर अग्नि का कोई दूसरा स्वरूप नहीं होता । मैं यदि व्यक्तिगत संविद्रश्मियों की पूजा करता हूँ तो उससे परमेश्वर के वैभव की ही पूजा होती है, किसी अन्य की नहीं ॥ ७ ॥

jvaladrūpaṃ bhāsvatpacanamatha dāhaṃ prakaṭanam
vimucyānyadvahneḥ kimapi ghaṭate naiva hi vapuḥ |
stuve saṃvidraśmīn yadi nijajiāṃstena sa nuto
bhavennānyaḥ kaścid bhavati parameśasya vibhavaḥ || 7 ||

Kindling, lightening, cooking, burning and illuminating (these functions) is not done by any one other than fire. If I worship the rays of individual Saṁvid, by that (worship) he is worshiped who is no other than the final betitude of supreme Lord. || 7 ||

विचित्रारम्भत्वे गलितनियमे यः किल रसः
परिच्छेदाभावात् परमपरिपूर्णत्वमसमम् ।
स्वयं भासां योगः सकलभवभावैकमयता
विरुद्धैर्धर्मौघैः परचितिरनर्घोचितगुणा ॥ ८ ॥

विचित्र प्रारम्भ होने तथा नियमों के टूट जाने पर जो आनन्द होता है वह असीम होने के कारण परमपरिपूर्ण और अतुलनीय है । स्वयं प्रकाशों का सम्बन्ध और संसार के समस्त पदार्थों का तादात्म्य, परस्पर विरुद्ध धर्मों के द्वारा संग्रह, ये सब आपके अमूल्य गुणों के परिणाम हैं ॥ ८ ॥

vicitrārambhatve galitaniyame yaḥ kila rasaḥ
paricchedābhāvāt paramaparipūrṇatvamasamam |
svayaṃ bhāsāṃ yogaḥ sakalabhavabhāvaikamayatā
viruddhairdharmauighaiḥ paracitiranarghocitaguṇā || 8 ||

The sentiment which (arises) after strange beginning and relaxation of law, due to limitlessness, it is extremely perfect and unparallel. The association of selfluminosity and identification with all the world by substances, this assembling of opposite qualities is (result of Your) inestimable merit. || 8 ||

इतीदृक्षै रूपैर्वरद विविधं ते किल वपु-
र्विभाति स्वांशेऽस्मिन् जगति गतभेदं भगवतः।
तदेवैतत्स्तोतुं हृदयमथ गीर्बाह्यकरण-
प्रबन्धाश्च स्युर्मे सततमपरित्यक्तरभसः ॥ ९ ॥

हे वरद भगवन्! इस प्रकार के स्वरूपों के द्वारा आपका अनेक प्रकार का शरीर आपके अंशभूत इस जगत् में भेदरहित होकर प्रकाशित होरहा है । उसी इस रूप की स्तुति करने के लिए मेरा हृदय, मेरी वाणी, बाह्येन्द्रियां और प्रबन्ध निरन्तर सफलता के साथ लगे रहें ॥ ९ ॥

itīdṛkṣai rūpairvarada vividhaṃ te kila vapu-
rvibhāti svāṃśe'smin jagati gatabhedaṃ bhagavataḥ |
tadevaitatstotuṃ hṛdayamatha gīrbāhyakaraṇa-
prabandhāśca syurme satatamaparityaktarabhasaḥ || 9 ||

This through these forms, o boongiver! Glorious your body even though partless manifests in diversified way in this world which is Your part. May my mind, tongue external organs and treatises be always engaged to pray without enthusiastic failure. || 9 ||

तवैवैकस्यान्तः स्फुरितमहसो बोधजलधे-
र्विचित्रोर्मिव्रातप्रसरणरसो यः स्वरसतः ।
त एवामी सृष्टिस्थितिलयमयस्फूर्जितरुचां
शशाङ्कार्काग्नीनां युगपदुदयापायविभवाः ॥ १० ॥

बोधरूपी समुद्र के समान तथा अद्वितीय आपके अन्दर स्वभावत: स्फुरित होनेवाले विचित्र तरङ्गसमूहों के प्रकाश का जो आनन्द है, वही सृष्टि, स्थिति प्रलय से भरे हुए तथा दीप्यमान कान्तिवाले चन्द्र, सूर्य और अग्नि के एक साथ घटित होनेवाले उत्थान और पतन हैं ॥ १० ॥

tavaivaikasyāntaḥ sphuritamahaso bodhajaladhe-
rvicitrormivrātaprasaraṇaraso yaḥ svarasataḥ |
ta evāmī sṛṣṭisthitilayamayasphūrjitarucāṃ
śaśāṅkārkāgnīnāṃ yugapadudayāpāyavibhavāḥ || 10 ||

The spontaneous exhilaration of expansion of the group of strange waves of the oceans of awareness, Whose glow is arising from within you only, verily these are simultaneous rise fall and existing of moon, sun and fire whose light is dazzling in the form of creation, existence and destruction. || 10 ||

अतश्चित्राचित्रक्रमतदितरादिस्थितिजुषो
विभोः शक्तिः शश्वद् व्रजति न विभेदं कथमपि ।
तदेतस्यां भूमावकुलमिति ते यत्किल पदं
तदेकाग्रीभूयान्मम हृदयभूर्भैरव विभो ॥ ११ ॥

इसलिए चित्र-अचित्र, क्रम और अक्रम की स्थितिवाले परमात्मा की शक्ति कभी भेद को नहीं प्राप्त करती । इसलिए इस भूमि पर जो तुम्हारा अकुल नाम है, हे भैरव!, हे विभो! वह मेरे हृदय में एकाग्र होजाय ॥ ११ ॥

atașcitrācitrakramataditarādisthitijușo
vibhoḥ śaktiḥ śaśvad vrajati na vibhedaṃ kathamapi |
tadetasyāṃ bhūmāvakulamiti te yatkila padaṃ
tadekāgrībhūyānmama hṛdayabhūrbhairava vibho || 11 ||

Therefore, the power of alpervasive, who is accomplished with strange nonstrange succession and otherwise, does not go to diversity. Anyhow, on this level Your that place which is named as Akula, O Vibho! O Bhairava! may my heart concentrate to that one. || 11 ||

अमुष्मात् सम्पूर्णात् वत रसमहोल्लाससरसा-
न्निजां शक्तिं भेदं गमयसि निजेच्छाप्रसरतः ।
अनर्घं स्वातन्त्र्यं तव तदिदमत्यद्भुतमयीं
भवच्छक्तिं स्तुन्वन् विगलितभयोऽहं शिवमयः ॥ १२ ॥

इस सम्पूर्ण रसमहोल्लास से सरस अपनी इच्छा के प्रसार से अपनी शक्ति को भेदमयी बनाते हो । आपका स्वातन्त्र्य अनर्घ है । अतः इस अत्यन्त अद्‌भुत आपकी शक्ति की स्तुति करता हुआ मैं भयरहित और शिवमय हो गया हूँ ॥ १२॥

amușmāt sampūrṇāt vata rasamahollāsasarasā-
nnijāṃ śaktiṃ bhedaṃ gamayasi nijecchāprasarataḥ |
anarghaṃ svātantryaṃ tava tadidamatyadbhutamayīṃ
bhavacchaktiṃ stunvan vigalitabhayo'haṃ śivamayaḥ || 12 ||

Due to this complete exhilaralion of bliss (You) diversify Your power by Your wishful expansion. Your that svātantrya (freedom) is inestimable. Praying to Your that strange power I have been free from terror and have become identical to Śiva. || 12 ||

इदन्तावद्रूपं तव भगवतः शक्तिसरसं
क्रमाभावादेव प्रसभविगलत्कालकलनम् ।
मनःशक्त्या वाचाप्यथ करणचक्रैर्बहिरथो
घटाद्यैस्तद्रूपं युगपदधितिष्ठेयमनिशम् ॥ १३ ॥

हे भगवन्! आपकी इस शक्ति ने सरस रूपक्रम के अभाव के कारण हठात् काल की कलना को नष्ट कर दिया है । मन की शक्ति, वाणी, इन्द्रियसमूह और बाह्य घटादि के द्वारा मैं एकसाथ सर्वदा मन में धारण करूँ ॥ १३ ॥

idantāvadrūpaṃ tava bhagavataḥ śaktisarasaṃ
kramābhāvādeva prasabhavigalatkālakalanam |

manaḥśaktyā vācāpyatha karaṇacakrairbahiratho
ghaṭādyaistadrūpaṃ yugapadadhitiṣṭheyamaniśam || 13 ||

Your that figure is laden with power and due to absence of succession it has destroyed forcibly the creation of time factor. May I recollect that figure with the power of mind, speech, the group of organs and outwordly things pot etc. || 13 ||

क्रमोल्लासं तस्यां भुवि विरचयन् भेदकलनां
स्वशक्तीनां देव प्रथयसि सदा स्वात्मनि ततः।
क्रियाज्ञानेच्छाख्यां स्थितिलयमहासृष्टिविभवां
त्रिरूपां भूयासं समधिशयितुं व्यग्रहृदयः ॥ १४ ॥

हे देव! उस भूमि पर आप अपनी शक्तियों की भेदमयी रचना और क्रमिक उल्लास को विरचित करते हुए भी सदा अपने स्वरूप में स्थित रहते हुए उसका विस्तार करते हैं । आपकी कृपा से मैं क्रिया, ज्ञान, इच्छा नामक स्थिति, लय और महासृष्टिवाले त्रिरूप को धारण करने में सदा व्यग्र हृदयवाला हूँ ॥ १४ ॥

kramollāsaṃ tasyāṃ bhuva viracayan bhedakalanāṃ
svaśaktīnāṃ deva prathayasi sadā svātmani tataḥ |
kriyājñānecchākhyāṃ sthitilayamahāsṛṣṭivibhavāṃ
trirūpāṃ bhūyāsaṃ samadhiśayituṃ vyagrahṛdayaḥ || 14 ||

O God! In that state You create the flash of succession, and diversity of Your powers expand always then in Yourself. May I being stirredminded be (capable to) grasp that three formed (power) whose names are Icchā, Jñāna and Kriyā (i.e. wish, knowledge and action) and which is glorious with creation sustainance and destruction. || 14 ||

परा सृष्टिर्लीना हुतवहमयी यात्र विलसत्-
परोल्लासौन्मुख्यं व्रजति शशिसंस्पर्शसुभगा ।
हुताशेन्दुस्फारोभयविभवभाग् भैरवविभो
तवेयं सृष्ट्याख्या मम मनसि नित्यं विलसतात् ॥ १५ ॥

अग्नि से अभिन्न परासृष्टि जो यहाँ लीन थी यह चन्द्रमा के संस्पर्श से सुभग होकर परमोल्लास के औन्मुख्य को प्राप्त होती है । अग्नि और चन्द्रमा दोनों की विभववाली तुम्हारी यह सृष्टि, हे भैरव!, हे विभो! मेरे मन में नित्य विराजमान रहे ॥ १५ ॥

parā sṛṣṭirlīnā hutavahamayī yātra vilasat-
parollāsaunmukhyaṃ vrajati śāśisaṃsparśasubhagā |

hutāśenduspharobhayavibhavabhāg bhaivaravibho
taveyaṃ sṛṣṭyākhyā mama manasi nityaṃ vilasatāt || 15 ||

The inherent first (Parā) creation which is identical to fire and being honoured by the contact of the moon goes towards exhilaration of dazzling ultimate one, O Bhairava! O pervasive! may Your this creation which is accomplished with the grandeur of expansion of both fire and moon, shine always in my mind. ||15||

विसृष्टे भावांशे बहिरतिशयास्वादविरसे
यदा तत्रैव त्वं भजसि रभसाद् रक्तिमयताम् ।
तदा रक्ता देवी तव सकलभावेषु ननु मां
क्रियाद्रक्तापानक्रमघटितगोष्ठीगतघृणम् ॥ १६ ॥

बाहर से अतिशय स्वादहीन भावों की रचना करने के बाद जब उसी में तुम हठात् अनुराग का अनुभव करते हो तब रक्तादेवी तुम्हारे समस्त पदार्थों में तुम्हें रक्तापानक्रम से घटित गोष्ठी में (मुक्त) घृणारहित बनाती हैं ॥ १६ ॥

visṛṣṭe bhāvāṃśe bahiratiśayāsvādavirase
yadā tatraiva tvaṃ bhajasi rabhasād raktimayatām |
tadā raktā devī tava sakalabhāveṣu nanu māṃ
kriyādraktāpānakramaghaṭitagoṣṭhīgataghṛṇam || 16 ||

After creating the elements, which is outwordly without any taste, when You suddenly become inclined to that then regarding all elements (created) by You, may the goddess of inclination i.e. Raktā Devī make me uncontemptuous in the meetings organized in the succession of blood drinking. || 16 ||

बहिर्वृत्तिं हातुं चितिभुवमुदारां निवसितुं
यदा भावाभेदं प्रथयसि विनष्टोर्मिचपलः ।
स्थितेर्नाशं देवी कलयति तदा सा तव विभो
स्थितेः सांसारिक्याः कलयतु विनाशं मम सदा ॥ १७ ॥

बाहर की वृत्ति का त्याग एवं चित्सत्ता में निवास करने के लिए जब आप ऊर्मि की चपलता को छोड़कर भावों में अभेद का विस्तार करते हैं तब हे प्रभो! वह देवी तुम्हारी स्थिति का नाश करती है । वह देवी सदा मेरी सांसारिक स्थिति का नाश करे ॥ १७ ॥

bahirvṛttiṃ hātuṃ citibhuvamudārāṃ nivasituṃ
yadā bhāvābhedaṃ prathayasi vinaṣṭormicapalaḥ |
sthiternāśaṃ devī kalayati tadā sā tava vibho
sthiteḥ sāṃsārikyāḥ kalayatu vināśaṃ mama sadā || 17 ||

When, to abandon the outer exposition and to reside in the glorious ground of conciousness, You, having destroyed Your fickling rays, expand identity (indifference) among elements, and the goddess destroys the existence, then O Lord! May that (goddess) destroy my worldly existence also. || 17 ||

जगत्संहारेण प्रशमयितुकामः स्वरभसात्
स्वशङ्कातङ्काख्यं विधिमथ निषेधं प्रथयसि ।
इमं सृष्ट्वेत्थं त्वं पुनरपि च शङ्कां विदलयन्
महादेवी सेयं मम भवभयं संदलयताम् ॥ १८ ॥

संसार के संहार के द्वारा अपनी शङ्का के आतङ्क को दूर करने के लिए आप अपने बल से विधि तथा निषेध का विस्तार करते हैं । इस प्रकार इसका सृजन कर पुनः उस शङ्का को दूर करते हैं तो आपकी वह महादेवी शक्ति मेरे संसार के भय को नष्ट करे ॥ १८ ॥

jagatsaṃhāreṇa praśamayitukāmaḥ svarabhasāt
svaśaṅkātaṅkākhyaṃ vidhimatha niṣedhaṃ prathayasi |
imaṃ sṛṣṭvetthaṃ tvaṃ punarapi ca śaṅkāṃ vidalayan
mahādevī seyaṃ mama bhavabhayaṃ saṃdalayatām || 18 ||

By destruction of the world, You, desirous to remove Your terror of doubt by force, spread (at first) affirmation and then negation, Having thus created this again You remove the doubt. May that great goddess destroy my terror of the world. || 18 ||

विलीने शङ्कौघे सपदि परिपूर्णे च विभवे
गते लोकाचारे गलितविभवे शास्त्रनियमे ।
अनन्तं भोग्यौघं ग्रसितुमभितो लम्पटरसा
विभो संसाराख्या मम हृदि भिदांशं प्रहरतु ॥ १९ ॥

शङ्का के दूर होने पर और वैभव के शीघ्र पूर्ण होने पर, लोकाचार के नष्ट होने पर तथा शास्त्रीय नियम के वैभव के दूर होने पर, अनन्त भोग्यसमूह को चारों ओर से ग्रसित करने के लिए परमात्मा की संसार नामक शक्ति मेरे हृदय में भेद का नाश करे ॥ १९ ॥

vilīne śaṅkaughe sapadi paripūrṇe ca vibhave
gate lokācāre galitavibhave śāstraniyame |
anantaṃ bhogyaughaṃ grasitumabhito lampaṭarasā
vibho saṃsārākhyā mama hṛdi bhidāṃśaṃ praharatu || 19 ||

After the group of doubts is gone, grandeur is quickly gone to perfection, the worldly behaviour is gone and the ethics of the scriptures have become useless, O pervasive one! Your (power) named world, which is of greedy nature and ready to devour this limitless group of consumable sub-stanceas, may that remove the thought of difference (existing) in my heart. || 19 ||

तदित्थं देवीभिः सपदि दलिते भेदविभवे
विकल्पप्राणासौ प्रविलसति मातृस्थितिरलम् ।
अतः संसारांशं निजहृदि विमृश्य स्थितिमयी
प्रसन्ना स्यान्मृत्युप्रलयकरणी मे भगवती ॥ २० ॥

तो इस प्रकार देवियों के द्वारा भेदसमूह के शीघ्र नष्ट होने पर विकल्पक प्राणवाली यह मातृस्थिति अत्यन्त शोभायमान होती है । अत: संसार संसारांश का अपने हृदय में विमर्श करती हुई स्थितिमयी भगवती प्रसन्न होकर मेरी मृत्यु का नाश करे ॥ २० ॥

taditthaṃ devībhiḥ sapadi dalite bhedavibhave
vikalpaprāṇāsau pravilasati mātṛsthitiralam |
ataḥ saṃsārāṃśaṃ nijahṛdi vimṛśya sthitimayī
prasannā syānmṛtyupralayakaraṇī me bhagavatī || 20 ||

Thus when the grandeur of diversity is dertroyed quickly by Goddesses, the Mother whose existence is mere thought-construct, shines with glory. Therefore may that Goddess, who is doer of death and annihilation and exists having thought over this world in her heart, be pleased with me. || 20 ||

तदित्थं ते तिस्रो निजविभवविस्फारणवशा-
दवाप्ताः षट्चक्रं क्रमकृतपदं शक्तय इमाः ।
क्रमादुन्मेषेण प्रविदधति चित्रां भुवि दशा-
मिमाभ्यो देवीभ्यः प्रवणहृदयः स्यां गतभयः ॥ २१ ॥

आपके वैभव के प्रकाशन के कारण आपकी ये तीनों शक्तियां क्रमशः भिन्न होनेवाले षट्चक्रों को प्राप्त की (अथवा क्रमशास्त्रानुसार षट्चक्र का भेदन की) । उसके बाद क्रमशः इस पृथिवी पर आपके उन्मेष के द्वारा विचित्र अवस्था को प्राप्त करती है । मैं निर्भय होकर इन देवियों के लिए प्रणत हृदय वाला होजाऊँ ॥ २१ ॥

taditthaṃ te tisro nijavibhavavisphāraṇavaśā-
davāptāḥ ṣaṭcakraṃ kramaktapadaṃ śaktaya imāḥ |

kramādunmeṣeṇa pravidadhati citrāṃ bhuvi daśā-
mimābhyo devībhyaḥ pravaṇahṛdayaṃ syāṃ gatabhayaḥ || 21 ||

Thus due to manifestation of (Your) own glory Your these three powers take the form of six cakras in Krama system. In succession (these) get unique condition on the earth due to Your Unmeṣa. May I being fearless, bow down with my heart before these Goddesses. || 21 ||

इमां रुन्धे भूमिं भवभयभिदातङ्ककरणीं
इमां बोधैकान्तद्रुतिरसमयीं चापि विदधे ।
तदित्थं सम्बोधद्रुतिमथ विलुप्याशुभतती-
र्यथेष्टं चाचारं भजति लसतात् सा मम हृदि ॥ २२ ॥

संसार के भय को नष्ट करने में आतङ्क उत्पन्न करनेवाली इस भूमि को मैं रोक दूँ तथा इस धरा को सर्वथा चिन्मय बोध के प्रवण के रस से युक्त कर दूँ । जो आपकी शक्ति अशुभ-समूह को लुप्त कर सम्बोधद्रुति तथा यथेष्ट आचार का क्रियान्वयन करती है, वह मेरे हृदय में देदीप्यमान हो ॥ २२ ॥

imāṃ rundhe bhūmiṃ bhavabhayabhidātaṅkakaraṇīṃ
imāṃ bodhaikāntadrutirasamayīṃ cāpi vidadhe |
tadittham sambodhabrutimatha vilupyāśubhatatī-
ryatheṣṭaṃ cācāraṃ bhajati lasatāt sā mama hṛdi || 22 ||

Let me stop this ground which is creater of the terror of worldly diversity. Let me make the ground full of the exhilaration perfectly and only coming out of the enlightenment. Thus after that, which having eradicated even the sentiment of enlightenment which is lineage of in auspicious, plays at Her own accordance, may that shine in my heart. || 22 ||

क्रियाबुद्ध्यक्षादेः परिमितपदे मानपदवी-
मवाप्तस्य स्फारं निजनिजरुचा संहरति या ।
इयं मार्तण्डस्य स्थितिपदयुजः सारमखिलं
हठादाकर्षन्ती कृषतु मम भेदं भवभयात् ॥ २३ ॥

सीमित वस्तुओं के विषय में प्रमाण स्वरूप आपकी जो शक्ति अपनी कान्ति के द्वारा क्रिया, ज्ञान और इन्द्रिय के विस्तार को नष्ट कर देती है । स्थितिपद प्राप्त करनेवाले सूर्य के समस्त सार को बलात् आकृष्ट करनेवाली आपकी यह शक्ति संसार के भय के कारण, भेद को दूर करे ॥ २३ ॥

kriyābuddhyakṣādeḥ parimitapade mānapadavī-
mavāptasya sphāraṃ nijanijarucā saṃharati yā |
iyaṃ mārtaṇḍasya sthitipadayujaḥ sāramakhilaṃ
haṭhādākarṣantī kṛṣatu mama bhedaṃ bhavabhayāt || 23 ||

Who according to her lustre contracts the expansion of action, knowledge and organs etc. being evidence regarding limited things, may this, which pulls away by force the complete essence of the existing sun, remove my fear from worldly terror. || 23 ||

समग्रामक्षालीं क्रमविरहितामात्मनि मुहु-
र्निवेश्यानन्तान्तर्बहलितमहारश्मिनिवहा ।
परा दिव्यानन्दं कलयितुमुदारादरवती
प्रसन्ना मे भूयात् हृदयपदवीं भूषयतु च ॥ २४ ॥

जो बारम्बार सम्पूर्ण इन्द्रियसमूह को बिना क्रम के (अर्थात् एक साथ) अपने अन्दर समाहित करके अपने अन्दर अनन्त आदरणीय महारश्मि-समूह को धारण करती है । उदार-आदरयुक्त वह पराशक्ति दिव्य आनन्द देने के लिए मेरे ऊपर प्रसन्न हो जाय और हृदय को अलंकृत करे (अर्थात् हृदय में निवास करे) ॥ २४ ॥

samagrāmakṣālīṃ kramavirahitāmātmani muhu-
rniveśyānantāntarbahalitamahāraśmianivahā |
parā divyānandaṃ kalayitumudārādaravatī
prasannā me bhūyāt hṛdayapadavīṃ bhūṣayatu ca || 24 ||

Who having observed again and again in her ownself the whole of group of senses in without order, becomes full of limitless great rays which flows inside, may that Parā Goddess which is generous and respectful, be pleased with me to bestow upon devine pleasure and may She decorate (i.e. reside in) my heart. || 24 ||

प्रमाणे संलीने शिवपदलसद्वैभववशा-
च्छरीरं प्राणादिर्मितकृतकमातृस्थितिमयः ।
यदा कालोपाधिः प्रलयपदमासादयति ते
तदा देवी यासौ लसति मम सा स्ताच्छिवमयी ॥ २५ ॥

शिवपद के कान्तिमान् वैभव के कारण प्रमाण के लीन अर्थात् लुप्त होने पर शरीर, प्राणादि कृत्रिम प्रमाता की स्थिति को प्राप्त करते हैं और जब आपका काल नामक उपाधि प्रलय को प्राप्त होती है तब जो देवी देदीप्यमान होती है वह मेरे लिए कल्याण करनेवाली हो ॥ २५ ॥

pramāṇe saṃlīne śivapadalasadvaibhavavaśā-
ccharīraṃ prāṇādirmitakṛtakamātṛsthitimayaḥ |
yadā kālopādhiḥ pralayapadamāsādayati te
tadā devī yāsau lasati mama sā stācchivamayī || 25 ||

When due to dazzling glory of attainment of Śiva the evidences are absorbed, the body, the vital breath etc. become identical to limited artificial knower, and when Your condition of time goes to annihilation, at that time which goddess shines, may that Goddess be full of welfare to me. || 25 ||

प्रकाशाख्या संवित् क्रमविरहिता शून्यपदतो
बहिर्लीनात्यन्तं प्रसरति समाच्छादकतया ।
ततोऽप्यन्तःसारे गलितरभसादक्रमतया
महाकाली सेयं मम कलयतां कालमखिलम् ॥ २६ ॥

प्रकाश नामक संवित् क्रमरहित होकर शून्यपद से आच्छादक के रूप में बाहर अत्यन्त प्रसरण करती है । इसके साथ ही अन्दर की ओर भी क्रम रहित होकर बिना परिश्रम के अन्दर की ओर प्रसरण करती है । वह महाकाली मेरे सम्पूर्ण काल (अर्थात् मृत्यु) का ग्रहण करे ॥ २६ ॥

prakāśākhyā saṃvit kramavirahitā śūnyapadato
bahirlīnātyantaṃ prasarati samācchādakatayā |
tato'pyantasrāregalitarabhaḥsādakramatayā
mahākālī seyaṃ mama kalayatāṃ kālamakhilam || 26 ||

The Saṁvid named Prakāśa, which is without succession, (when) secretly expands out extremely in the form of cover, even at that time Mahākālī (resides) inside without eager and succession. May that Kālī, hold the whole of my Kāla (time or death). || 26 ||

ततो देव्यां यस्यां परमपरिपूर्णस्थितिजुषि
क्रमं विच्छिद्याशु स्थितिमतिरसात्संविदधति ।
प्रमाणं मातारं मितिमथ समग्रं जगदिदं
स्थितां क्रोडीकृत्य श्रयति मम चित्तं चितिमिमाम् ॥ २७ ॥

परमपरिपूर्ण स्थितिवाली जिस देवी के अन्दर यह संसार प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण के रूप में क्रमरहित होकर अत्यन्त आनन्द के साथ रहता है । मेरा मन ऐसे संसार को अपनी गोद में रखनेवाली इस चित्शक्ति का आश्रय ग्रहण करे ॥ २७ ॥

tato devyāṃyasyāṃ paramaparipūrṇasthitijuṣi
kramaṃ vicchidyāśu sthitimatirasātsaṃvidadhati ǀ
pramāṇaṃ mātāraṃ mitimatha samagraṃ jagadidaṃ
sthitāṃ kroḍīkṛtya śrayati mama cittaṃ citimimām ǁ 27 ǁ

Goddess who enjoys her extremely perfect state and in which (whole universe) exists without any succession due to excessive delight who having clasped the evidence (pramāṇa) knower the knowledge and even this whole world, exists. May my mind take shelter to that consciousness. ǁ 27 ǁ

अनर्गलस्वात्ममये महेशे तिष्ठन्ति यस्मिन् विभुशक्तयस्ताः।
तं शक्तिमन्तं प्रणमामि देवं मन्थानसंज्ञं जगदेकसारम् ॥ २८ ॥

निर्बाध स्वात्ममय जिस ईश्वर के अन्दर की व्यापिनी शक्तियाँ विराजमान् रहती है। संसार के एकमात्र सारभूत मन्थान नामक उस शक्तिमान् देव को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २८ ॥

anargalasvātmamaye maheśe tiṣṭhanti yasmin vibhuśaktayastāḥ ǀ
taṃ śaktimantaṃ praṇamāmi devaṃ manthānasaṃjñaṃ jagadekasāram ǁ 28 ǁ

In which unlimited Maheśa (Great God) who is identical to ownself, and where alpervasive powers inhere, I salute to that powerful God, whose name is Manthāna, and who is the only essence of the world. ǁ 28 ǁ

इत्थं स्वशक्तिकिरणौघनुतिप्रबन्धान्
आकर्ण्य देव यदि मे व्रजसि प्रसादम् ।
तेनाशु सर्वजनतां निजशासनांशु-
संशान्तिताखिलतमःपटलां विधेयाः ॥ २९ ॥

हे देव! यदि आपकी शक्तिकिरणों के समूह को प्रणाम करनेवाले ऐसे प्रबन्धों को सुनकर आप मेरे ऊपर प्रसन्न होते तो शीघ्र ही समस्त लोगों को अपने उपदेश की किरणों के द्वारा समस्त अन्धकारसमूह को शान्ति से युक्त बनाइये ॥ २९ ॥

itthaṃ svaśaktikiraṇaughanutiprabandhān
ākarṇya deva yadi me vrajasi prasādam ǀ
tenāśu sarvajanatāṃ nijaśāsanāṃśu-
saṃśāntitākhilatamaḥpaṭalāṃ vidheyāḥ ǁ 29 ǁ

O God! If, having heard these treatises inspired by the group of the rays of your power, you are pleased with me then make the whole people such that their thick darkness is completely removed by the rays of Your discipline. ǁ 29 ǁ

षट्षष्ठिनामके वर्षे नवम्यामसितेऽहनि ।
मयाऽभिनवगुप्तेन मार्गशीर्षे स्तुतः शिवः ॥ ३० ॥

॥ इति श्रीअभिनवगुप्तपादाचार्यकृतं क्रमस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥

संवत् ११६६ मार्गशीर्ष कृष्णपक्ष में मुझ अभिनवगुप्त के द्वारा शिव की स्तुति की गयी ॥ ३० ॥

ṣaṭṣaṣṭhianāmake varṣe navamyāmasite'hani I
mayā'bhinavaguptena mārgaśīrṣe stutaḥ śivaḥ II 30 II

II iti śrīabhinavaguptapādācāryakṛtaṃ kramastotraṃ sampūrṇam II

Śiva is prayed by me Ahhinavagupta in the ninth date of black fortnight of Mārgaśīrṣa of 1166 year II 30 II

II Thus the Krama-stotraṁ of Abhinavagupta-pādācārya comes to an end II

भैरवस्तवः

Bhairavastavaḥ

[इस स्तोत्र में कुल दश श्लोक हैं। दशवाँ श्लोक इस स्तोत्र के रचनाकाल की ओर संकेत करता है। यह भी एक दार्शनिक स्तोत्र है। जिस व्यक्ति के चित्त में शिवरूपी प्रकाश का उदय हो जाता है उसका सम्पूर्ण अज्ञान नष्ट हो जाता है और वह मृत्यु, सांसारिक बन्धनादि से कभी भी भयभीत नहीं होता है। यह सम्पूर्ण चराचर जगत् उसी परमप्रकाश अर्थात् महेश से व्याप्त है। जब स्वात्मा उसमें व्याप्त होजाता है तो अधिभौतिक, अधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों ताप नष्ट हो जाते हैं। इसमें कुल दर्शन की स्पष्ट भावना है। भैरव ही कौलदर्शन में चरम सत्य हैं।

This Bhairavastavaḥ contains ten verses. Tenth śloka indicates its time of composition. The light of Śivaness arises in the heart of a person which destroys his total ignorance and he never fears of death and worldly bondage etc. This entire movable and immovable universe is pervaded with that highest light i.e. Maheśa. The effect of Kula philosophy is very clear here in. According to the Kula philosophy the Lord Bhairava is the Hightest Reality and the conception of life-liberation is the identity with Bhairava (Bhairavaīkātmya).]

व्याप्तचराचरभावविशेषं चिन्मयमेकमनन्तमनादिम्।
भैरवनाथमनाथशरण्यं त्वन्मयचित्ततया हृदि वन्दे ॥ १ ॥

जो चराचर विशिष्ट भाव में व्याप्त है, चिन्मय, एक, अनन्त और अनादि है। ऐसे अनाथ के शरण्य भैरवनाथ की त्वन्मय (अर्थात् भैरवमय) चित्त के रूप में हृदय में वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥

vyāptacarācarabhāvaviśeṣaṃ cinmayamekamanantamanādim |
bhairavanāthamanāthaśaraṇyaṃ tvanmayacittatayā hṛdi vande || 1 ||

(I) Salute Lord Bhairava in (my) heart by the mind full of you, (Bhairava) has pervaded all the specific stayic and mobile

elements, concious, one, endless, beginningless and the shelter of orphans. || 1 ||

त्वन्मयमेतदशेषमिदानीं भाति मम त्वदनुग्रहशक्त्या ।
त्वं च महेश सदैव ममात्मा स्वात्ममयं मम तेन समस्तम्॥ २ ॥

हे महेश! तुम्हारी कृपा से यह सम्पूर्ण विश्व अब तुमसे व्याप्त प्रतीत हो रहा है और तुम सदैव मेरी आत्मा हो । अतः सबकुछ मेरे लिए स्वात्ममय है ॥ २॥

tvanmayametadśeṣamidānīṃ bhāti mama tvadanugrahaśaktyā |
tvaṃ ca maheśa sadaiva mamātmā svātmamayaṃ mama tena samastam || 2 ||

All this is full of You (and) at present it manifests to me by Your power of grace. O great God! You always are my soul therefore my whole is full of my self. || 2 ||

स्वात्मनि विश्वगते त्वयि नाथे तेन न संसृतिभीतिकथाऽस्ति ।
सत्स्वपि दुर्धरदुःखविमोहत्रासविधायिषु कर्मगणेषु ॥ ३ ॥

हे नाथ! जब स्वात्मा विश्वमय आपके द्वारा व्याप्त हो गई तो दुर्धरा-दुःख और त्रास के विधायक कर्मों के होनेपर भी सृष्टि से भय की कथा नहीं है । मेरे लिए संसार से भय की बात ही नहीं है ॥ ३ ॥

svātmani viśvagate tvayi nāthe tena na saṃsṛtibhītikathā'sti |
satsvapi durdharaduḥkhavimohatrāsavidhāyiṣu karmagaṇeṣu || 3 ||

When the individual self becomes identical to the universe which (the universe) is You Lord, due to this there is no question of fear, even though there are the groups of actions which are creations of horrible pain, illusion and terror. || 3 ||

अन्तक मां प्रति मा दृशमेनां क्रोधकरालतमां विनिधेहि ।
शङ्करसेवनचिन्तनधीरो भीषणभैरवशक्तिमयोऽस्मि ॥ ४ ॥

हे यमराज! आप अपनी इस क्रोध के कारण करालतम दृष्टि को मेरे ऊपर मत डालिए क्योंकि मैं शङ्कर की सेवा की चिन्ता के कारण धीर तथा भीषण भैरव शक्तिवाला होगया हूँ ॥ ४ ॥

antaka māṃ prati mā dṛśamenāṃ krodhakarālatamāṃ vinidhehi |
śaṅkarasevanacintanadhīro bhīṣaṇabhairavaśaktimayo'smi || 4 ||

O destroyer! Do not look towards me by this eye which is the most fearful by anger. (Since) I am steadfast due to meditation to service of Śaṅkara, and full of horrible power of Bhairava. || 4 ||

इत्थमुपोढभवन्मयसंविद्दीधितिदारितभूरितमिस्रः ।
मृत्युयमान्तककर्मपिशाचैर्नाथ नमोऽस्तु न जातु बिभेमि ॥ ५ ॥

इस प्रकार आपसे व्याप्त संवित् की किरणों के द्वारा जिसका बृहद अन्धकार नष्ट होगया है ऐसा मैं, हे नाथ! मृत्यु, यम, अन्तककर्म और पिशाचों से कभी नहीं डरता ॥ ५ ॥

itthamupoḍhabhavanmayasaṃviddīdhitidāritabhūritamisraḥ ।
mṛtyuyamāntakakarmapiśācairnātha namo'stu na jātu bibhemi ॥ 5 ॥

Thus (I), whose great darkness is spelled out by the rays of Saṁvid full of Your identity, never fear from death, The Yama, Antaka deeds and devils. O Lord! salutations to you. ॥ 5 ॥

प्रोदितसत्यविबोधमरीचिप्रेक्षितविश्वपदार्थसतत्त्वः ।
भावपरामृतनिर्भरपूर्णे त्वय्यहमात्मनि निर्वृतिमेमि ॥ ६ ॥

उदित सत्यरूपी बिबोध की मरीचि के द्वारा विश्व के पदार्थ के तत्त्वों का साक्षात् करनेवाला मैं भाव परामृत के भार से पूर्ण आपके अन्दर, [illegible] अन्दर निर्वृति (अर्थात् शान्ति) को प्राप्त कर रहा हूँ ॥ ६ ॥

proditasatyavibodhamarīciprekṣitaviśvapadārthasatattvaḥ ।
bhāvaparāmṛtanirbharapūrṇe tvayyahamātmani nirvṛtimemi ॥ 6 ॥

(I) who has seen all the elements along with there reality by arisen true enlightenment, are gone to full satisfaction, in you who is identical to me and who is full of the complete weight of ultimate nector of devotion. ॥ 6 ॥

मानसगोचरमेति यदैव क्लेशदशाऽतनुतापविधात्री ।
नाथ तदैव मम त्वदभेदस्तोत्रपरामृतवृष्टिरुदेति ॥ ७ ॥

हे नाथ! जब अनुताप उत्पन्न करनेवाली क्लेशदशा मेरे मन का विषय बनती है तब मेरे और आपके अभेद की स्तुतिरूपी परामृत की वर्षा होती है ॥ ७ ॥

mānasagocarameti yadaiva kleśadaśā'tanutāpavidhātrī ।
nātha tadaiva mama tvadabhedastotraparāmṛtavṛṣṭirudeti ॥ 7 ॥

When the condition of pain which is creater of afliction. (repentence) becomes the object of the mind, O Lord! Then and there the rain of ultimate nector of panegyrics of your identity showers in me. ॥ 7 ॥

शङ्कर सत्यमिदं व्रतदानस्नानतपो भवतापविदारि ।
तावकशास्त्रपरामृतचिन्ता स्यन्दति चेतसि निर्वृतिधाराम् ॥ ८ ॥

हे शङ्कर! यह सत्य है कि व्रत, दान, तप और स्नान संसार के कष्ट को दूर करनेवाले होते हैं और आपके विषय में चर्चा करनेवाले शास्त्ररूपी परामृत की चिन्ता चित्त में शान्ति की धारा बहाती है ॥ ८ ॥

śaṅkara satyamidaṃ vatadānasnānatapo bhavatāpavidāri ।
tāvakaśāstraparāmṛtacintā syandati cetasi nirvṛtidhārām ॥ 8 ॥

O Śaṅkara! it is true (that then) the fast, donation, bath (in pilgrimages) penance which are the dertroyers of worldly afliction and study of ultimate nector of the sceriptures related to You, flows the current of complete satisfaction in the mind. ॥ 8 ॥

नृत्यति गायति हृष्यति गाढं संविदियं मम भैरवनाथ ।
त्वां प्रियमाप्य सुदर्शनमेकं दुर्लभमन्यजनैः समयज्ञम् ॥ ९ ॥

हे भैरवनाथ! समय को जाननेवाले एकमात्र सुदर्शन अन्य लोगों के द्वारा दुर्लभ प्रिय स्वरूप आपको प्राप्तकर मेरी यह संवित् खूब नाचती, गाती तथा प्रसन्न होती है ॥ ९ ॥

nṛtyati gāyati hṛṣyati gāḍhaṃ saṃvidiyaṃ mama bhairavanātha ।
tvāṃ priyamāpya sudarśanamekaṃ durlabhamanyajanaiḥ samayajñam ॥ 9 ॥

O Lord Bhairava! Having got You, who is lovely good-looking one, difficult to attain by others and knower of precepts, my this saṁvid dances, sings, please in lavish profusion. ॥ 9 ॥

पौषरसाष्टगकृष्णदशभ्यामभिनवगुप्तः स्तवमिमकरोत् ।
येन विभुर्भवमानसतापं नाशयति स्वजनस्य झटिति दयालुः ॥ १० ॥

॥ समाप्तं स्तवमिदमभिनवाख्यं पद्यनवकम् ॥

सम्वत् १०६८ पौष कृष्ण दशमी को अभिनवगुप्त ने इस स्तोत्र की रचना की जिससे दयालु ईश्वर अपने लोगों के सांसारिक, मानसिक ताप शीघ्र नष्ट कर देते हैं ॥ १० ॥

pauṣarasāṣṭagakṛṣṇadaśabhyāmabhinavaguptaḥ stavamimakarot ।
yena vibhurbhavamānasatāpaṃ nāśayati svajanasya jhaṭiti dayāluḥ ॥ 10 ॥

॥ samāptaṃ stavamidamabhinavākhyaṃ padyanavakam ॥

Abhinavagupta composed this panegyric in the year (1068 on the 10th of black fortnight of Pauṣa, by which kind Vibhu (Lord Śiva) removes the afliction of worldly deserts of people very soon. ॥ 10 ॥

॥ Thus the Bhairavastavaḥ (containing nine verses) of Abhinavaguptapādācārya comes to an end ॥

...ॐ...

देहस्थदेवताचक्रस्तोत्रम्
Dehasthadevatācakrastotram

[इस स्तोत्र में कुल पन्द्रह श्लोक हैं । इसमें शरीर में स्थित प्राण, अपानवायु, ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियों को देवतास्वरूप मानकर उनकी स्तुति की गई है । उपर्युक्त सभी का समूह ही देवताचक्र है और शरीरस्थ आत्मा सबका स्वामी है । इसमें परम तत्त्व भैरव और उसकी शक्ति भैरवी का वर्णन है जो सदैव संसार की सृष्टि, स्थिति और विनाश रूपी लीला भी करती रहती है । काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार भैरव अर्थात् शिव जब आनन्दित होता है तो अपनी आनन्दभैरवी नामक शक्ति के द्वारा सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि से लेकर विनाशपर्यन्त अपनी लीला करता है । इसमें सम्पूर्ण शैवमार्ग का ज्ञान देनेवाले सद्गुरु की स्तुति का भी वर्णन है ।

[There are fifteen ślokas in this stotra. Breath respiration wind (Prāṇa-Apāna vāyu), organs of sense and action existing in body, in the form of Gods, are praised. The above stated group of all is spoken of as Devatācākra (God circle) and the self exixtent in the body is the Lord of all. The description of the Highest Reality namely the Bhairava and his power Bhairavī lies herein who always does sportive play of the originating, manifesting and devouring of the whole universe. According to the Kāśmīra Śaiva philosophy, when the Lord Bhairava is in pleasure, He creates and destroys by the help of his power namely the Ānanda Bhairavī. The real teacher (Sadgurū) who is the provider of knowledge of the entire Śaivite path, is also praised in this.]

असुरसुरवृन्दवन्दितमभिमतवरवितरणे निरतम् ।
दर्शनशताग्र्यपूज्यं प्राणतनुं गणपतिं वन्दे ॥ १ ॥

असुर एवं सुर के समूह से वन्दित अभीष्ट वर को देने में लगे हुए सैकड़ों दर्शनों (अर्थात् नेत्रों) के द्वारा प्रथमपूज्य प्राणरूपी गणपति को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

asurasuravṛndavanditamabhimatavaravitaraṇe niratam |
darśanaśatāgryapūjyaṃ prāṇatanuṃ gaṇapatiṃ vande || 1 ||

I salute Prāṇa (= Vital breath) who is Gaṇapati (= the Lord of group), saluted by the group of Gods and devils, engaged in distribution of desired boon and first worshipped by the hundreds of philosophies (or eyes). || 1 ||

वरवीरयोगिनीगणसिद्धावलिपूजितांघ्रियुगलम् ।
अपहृतविनयिजनार्तिं वटुकमपानाभिधं वन्दे ॥ २ ॥

श्रेष्ठ वीराचारी साधक, योगिनीगण और सिद्धसमूह के द्वारा पूजित दोनों पैरवाले, विनीत लोगों के दुःख को दूर करनेवाले अपान नामक वटुक को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

varavīrayoginīgaṇasiddhāvalipūjitāṃghriyugalam |
apahṛtavinayijanārtiṃ vaṭukamapānābhidhaṃ vande || 2 ||

I salute Vaṭuka whose name is Apāna, whose two feet are adorned by the groups of excellent Vīras, Yoginīs' group and siddhas and who has driven away the pains of humble persons. || 2 ||

आत्मीयविषयभोगैरिन्द्रियदेव्यः सदा हृदम्भोजे ।
अभिपूजयन्ति यं तं चिन्मयमानन्दभैरवं वन्दे ॥ ३ ॥

अपने विषयभोगों के द्वारा इन्द्रियरूपी देवियाँ अपने हृदयकमल में जिसकी सदा पूजा करती रहती हैं, मैं उस चिन्मय आनन्द-भैरव की वन्दना करता हूँ ॥ ३ ॥

ātmīyaviṣayabhogairindriyadevyaḥ sadā hṛdambhoje |
abhipūjayanti yaṃ taṃ cinmayamānandabhairavaṃ vande || 3 ||

I salute Ānanda bhairava who is full of couciousness and to whom the goddesses of organs always worship in their hearts by the enjoyments of their own objects. || 3 ||

यद्धीबलेन विश्वं भक्तानां शिवपथं भाति ।
तमहमवधानरूपं सद्गुरुममलं सदा वन्दे ॥ ४ ॥

जिसकी बुद्धि के बल से भक्तों को सम्पूर्ण शैवमार्ग भाषित होता है उस अवधानरूपी निर्मल सद्गुरु की सदा वन्दना करता हूँ ॥ ४ ॥

yaddhībalena viśvaṃ bhaktānāṃ śivapathaṃ bhāti |
tamahamavadhānarūpaṃ sadgurumamalaṃ sadā vande || 4 ||

I always salute to dirtless good Guru who is of the form of Avadhāna (= attention) and by the power of which wisdom the complete way of Śivahood is known to the devotees. || 4 ||

उदयावभासचर्वणलीलां विश्वस्य या करोत्यनिशम्।
आनन्दभैरवीं तां विमर्शरूपामहं वन्दे ॥ ५ ॥

जो निरन्तर विश्व की सृष्टि, स्थिति और संहारलीला को करती रहती है मैं विमर्शरूपा उस आनन्द भैरवी को प्रणाम करता हूँ ॥ ५ ॥

udayāvabhāsacarvaṇalīlāṃ viśvasya yā karotyaniśam ।
ānandabhairavīṃ tāṃ vimarśarūpāmahaṃ vande ॥ 5 ॥

I salute to that Ānandabhairavī who is of the form of Vimarśa (i.e. awareness) and who always does the play of originating, manifesting and devovuring of the universe. ॥ 5 ॥

अर्चयति भैरवं या निश्चयकुसुमैः सुरेशपत्रस्था ।
प्रणमामि बुद्धिरूपां ब्रह्माणीं तामहं सततम् ॥ ६ ॥

मैं उस बुद्धिरूपा ब्रह्माणी को निरन्तर प्रणाम करता हूँ जो पूर्वदिशा में स्थित होकर निश्चयरूपी फूलों द्वारा निरन्तर भैरव की पूजा करती है ॥ ६ ॥

arcayati bhairavaṃ yā niścayakusumaiḥ sureśapatrasthā ।
praṇamāmi buddhirūpāṃ brahmāṇīṃ tāmahaṃ satatam ॥ 6 ॥

I always bowdown to that Brahmāṇī who is of the from of wisdom, and who always sitting on the leaf of the direction of Sureśa i.e. east, worships Bhairava by the flowers of decisions. ॥6॥

कुरुते भैरवपूजामनलदलस्थाऽभिमानकुसुमैर्या ।
नित्यमहंकृतिरूपां वन्दे तां शम्भवीमम्बाम् ॥ ७ ॥

मैं उस शाम्भवी अम्बा की वन्दना करता हूँ जो अहङ्काररूपी है तथा अग्निकोण में स्थित होकर अभिमानरूपी फूलों से निरन्तर भैरव की पूजा करती है ॥ ७ ॥

kurute bhairavapūjāmanaladalasthā'bhimānakusumairyā ।
nityamahaṃkṛtirūpāṃ vande tāṃ śambhavīmambām ॥ 7 ॥

I always salute to that mother Śāmbhavī who is always of the form of ego and who sitting in the direction of God fire does the worship of Bhairava by the flowers of Abhimāna (= proud). ॥7॥

विदधाति भैरवार्चां दक्षिणदलगा विकल्पकुसुमैर्या।
नित्यं मनःस्वरूपां कौमारीं तामहं वन्दे ॥ ८ ॥

दक्षिण दिशा में विकल्पपुष्पों के द्वारा जो नित्य भैरव की पूजा करती है, उस मनःस्वरूपा कुमारी को मैं नित्य प्रणाम करता हूँ ॥ ८ ॥

vidadhāti bhairavārcāṃ dakṣiṇadalagā vikalpakusumairyā ।
nityaṃ manaḥsvarūpāṃ kaumārīṃ tāmahaṃ vande ॥ 8 ॥

I always salute to that Kaumārī (= Virgin) who is of the form of mind and sitting in the south leaf of Bhairava by the flowers of Vikalpas (= thought constructs). ॥ 8 ॥

नैर्ऋतदलगा भैरवमर्चयते शब्दकुसुमैर्या ।
प्रणमामि शब्दरूपां नित्यं तां वैष्णवीं शक्तिम् ॥ ९ ॥

नैर्ऋत्य दिशा में स्थित होकर जो शब्दपुष्पों के द्वारा भैरव की पूजा करती है, मैं उस शब्दरूपा वैष्णवी शक्ति को प्रणाम करता हूँ ॥ ९ ॥

nairṛtadalagā bhairavamarcayate śabdakusumairyā ।
praṇamāmi śabdarūpāṃ nityaṃ tāṃ vaiṣṇavīṃ śaktim ॥ 9 ॥

I always salute to the power named Vaiṣṇavī, who has taken the form of sound and sitting on the leaf in direction of Nairṛtya worships Bhairava by the flowers of words. ॥ 9 ॥

पश्चिमदिग्दलसंस्था हृदयहरैः स्पर्शकुसुमैर्या ।
तोषयति भैरवं तां त्वग्रूपधरां नमामि वाराहीम् ॥ १० ॥

पश्चिम दिशा के पत्र पर स्थित होकर जो मनोहारी स्पर्श फूलों के द्वारा भैरव को सन्तुष्ट करती है, तद्रूप धारण करनेवाली उस वाराही को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १० ॥

paścimadidgalasaṃsthā hṛdayaharaiḥ sparśakusumairyā ।
toṣayati bhairavaṃ tāṃ tvagrūpadharāṃ namāmi vārāhīm ॥ 10 ॥

I salute to that Vārāhī who has taken the form of skin and who sitting on the leaf of the west direction satisfies Bhaīrava by heart tempting flowers of touch. ॥ 10 ॥

वरतररूपविशेषैर्मारुतदिग्दलनिषण्णदेहा या ।
पूजयति भैरवं तामिन्द्राणीं दृक्तनुं वन्दे ॥ ११ ॥

जो वायु दिशा के दल में स्थित होकर श्रेष्ठ लोगों के द्वारा भैरव की पूजा करती है, नेत्र शरीरवाली उस इन्द्राणी की मैं वन्दना करता हूँ ॥ ११ ॥

varatararūpaviśeṣairmārutadidgalaniṣaṇṇadehā yā ।
pūjayati bhairavaṃ tāmindrāṇīṃ dṛktanuṃ vande ॥ 11 ॥

I salute to that Indrāṇī who has taken the form of eye and keeping her body on the leaf in the direction of wind who worships Bhairava by excelled special figures. ॥ 11 ॥

धनपतिकिसलयनिलया या नित्यं विविधषड्रसाहारैः ।
पूजयति भैरवं तां जिह्वाभिख्यां नमामि चामुण्डाम् ॥ १२ ॥

कुबेर की दिशा में स्थित पत्र पर रहनेवाली जो देवी अनेक प्रकार के छः रसों के आहार से भैरव की पूजा करती है, जिह्वा नामक उस चामुण्डा को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १२ ॥

dhanapatikisalayanilayā yā nityaṃ vividhaṣaḍrasāhāraiḥ ।
pūjayati bhairavaṃ tāṃ jihvābhikhyāṃ namāmi cāmuṇḍām ॥ 12 ॥

I salute to that Cāmuṇḍā who has taken the form of tongue and sitting on the leaf in the direction of lord of wealth (i.e. north) who worships Bhairava daily by the diet compounded by different six rasas (= tastes). ॥ 12 ॥

ईशदलस्था भैरवमर्चयते परिमलैर्विचित्रैर्या ।
प्रणमामि सर्वदा तां घ्राणाभिख्यां महालक्ष्मीम् ॥ १३ ॥

ईशान कोण के दल में स्थित जो विचित्र गन्धों से नित्य भैरव की पूजा करती है, घ्राण नामक उस महालक्ष्मी को मैं सर्वदा प्रणाम करता हूँ ॥ १३ ॥

īśadalasthā bhairavamarcayate parimalairvicitrairyā ।
praṇamāmi sarvadā tāṃ ghrāṇābhikhyāṃ mahālakṣmīm ॥ 13 ॥

I always bow down before Mahālakṣmī who has taken the form of nose and sitting on the leaf in the corner of Īśāna, worships Bhairava by unique fragrances. ॥ 13 ॥

षड्दर्शनेषु पूज्यं षट्त्रिंशत्तत्त्वसंवलितम् ।
आत्माभिख्यं सततं क्षेत्रपतिं सिद्धिदं वन्दे ॥ १४ ॥

छः दर्शनों में पूज्य छत्तीस तत्त्वों से युक्त सिद्धिदायक आत्मा नामक क्षेत्रपति की मैं नित्य वन्दना करता हूँ ॥ १४ ॥

ṣaḍdarśaneṣu pūjyaṃ ṣaṭtriṃśattattvasaṃvalitam ।
ātmābhikhyaṃ satataṃ kṣetrapatiṃ siddhidaṃ vande ॥ 14 ॥

I always salute the giver of siddhis (= aims), the lord of body, named Ātmā, adorned in six philosophies and accomplished with thirtysix elements. ॥ 14 ॥

संस्फुरदनुभवसारं सर्वान्तः सततसन्निहितम् ।
नौमि सदोदितमित्थं निजदेहगदेवताचक्रम् ॥ १५ ॥

॥ इति देहस्थदेवताचक्रस्तोत्रम् ॥

इस प्रकार अनुभव के द्वारा संस्फुरित होनेवाली सबके अन्दर निरन्तर वर्तमान, सदा उदित, अपने देहस्थदेवताचक्र को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १५ ॥

...❧❀☙...

saṃsphuradanubhavasāraṃ sarvāntaḥ satatasannihitam I
naumi sadoditamitthaṃ nijadehagadevatācakram II 15 II

II iti dehasthadevatācakrastotram II

...❧❀☙...

I always bowdown to the group of deties residing in my body, always being manifested in this way, always living near the heart of all and the object of experience alone. II 15 II

II Thus the Dehasthadevatācakrastotraṁ of Abhinava-guptapādācārya comes to an end II

...❧❀☙...

अनुभवनिवेदनम्
Anubhavanivednam

[इस स्तोत्र में केवल चार श्लोक हैं। इसमें योगी, योग और योगाभ्यासादि के विषय में वर्णन है। भैरवावतार अभिनवगुप्तपादाचार्य शिवैकात्म्यभाव को प्राप्त महान योगी थे। जब योगी ध्यान करता है तो उसे प्रकाशस्वरूप एक परमपुरुष अर्थात् आपके स्वरूप (परमपद) की प्राप्ति होती है। वह शिव ही होजाता है। इस स्तोत्र का दूसरा श्लोक श्रीमद्भगवत गीता के छठे अध्याय में स्थित उस श्लोक[१] से सम्बन्धित है जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को योगाभ्यास के विषय में उपदिष्ट किया है-। इसमें मन्त्र मुद्रादि का भी वर्णन है।

This stotra contains only four verses. Yogī, Yoga and the practice of Yoga are described herein. The Bhairava incarnate Abhinavaguptapādācārya was great yogī. When yogī meditates then he attains the supreme enlightend place i.e. becomes identical to the Śivaness. Second verse of this stotra has the resemblance to that of thirteenth śloka[1] of the sixth chapter of Śrīmadbhagavadgītā, wherein Lord Kṛṣna has preached Arjuna about the practice of Yoga. Mantra and Mudrā etc. are stated in this stotra.]

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरसौ पश्यन्नपश्यन्नपि।
मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति सा युष्मत्प्रसादाद् गुरो
शून्याशून्यविवर्जितं भवति यत् तत्त्वं पदं शाम्भवम् ॥ १ ॥

जब योगी मन एवं प्राण को अन्तर्लक्ष्य में विलीन कर देता है और निश्चल तारावाली दृष्टि से बाहर देखता हुआ भी नहीं देखता तो यह शाम्भवी मुद्रा होती है। हे गुरो! आपकी कृपा से जो तत्त्व शून्य एवं अशून्य दोनों से रहित हो जाता है वही शाम्भवपद अथवा आप हैं ॥ १ ॥

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता, छठाँ अध्याय, श्लोक १३

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन ॥

antarlakṣyavilīnacittapavano yogī yadā vartate
dṛṣṭyā niścalatārayā bahirasau paśyannapaśyannapi |
mudreyaṃ khalu śāmbhavībhavati sā yuṣmatprasādād guro
śūnyāśūnyavivarjitaṃ bhavati yat tattvaṃ padaṃ śāmbhavam || 1 ||

When yogī looks at inner goal, his mind and breath stop their functions and by his ey‹ ; where cornia is unmoving, he even looking out side, does not look. This posture is called Śāmbhavī Mudrā. O Guru! this is got by your grace. That which is devoid of śūnya (= void) and aśunya (= unvoid) that place is Śāmbhava and that is you. || 1 ||

अर्धोद्धाटितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-
श्चन्द्रार्कावपि लीनतामुपगतौ त्रिस्पन्दभावान्तरे ।
ज्योतीरूपमशेषबाह्यरहितं चैकं पुमांसं परं
तत्त्वं तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम्॥ २ ॥

जब योगी अपने नेत्रों को आधा खुला रखता है, चित्त को स्थिर और आँखों को नाशाग्र भाग में लगा देता है और चन्द्रमा तथा सूर्य तृस्पन्दभाव में लीन होजाते हैं और सम्पूर्ण बाह्य से रहित ज्योतिरूप एक परमपुरुष[१] आभासित होता है तब योगी तुम्हारे स्वरूप, परमपद को प्राप्त कर लेता है । इस विषय में अधिक क्या कहना? ॥ २ ॥

ardhoddhāṭitalocanaḥ sthiramanā nāsāgradattekṣaṇa-
ścandrārkāvapi līnatāmupagatau trispandabhāvāntare |
jyotīrūpamaśeṣabāhyarahitaṃ caikaṃ pumāṃsaṃ paraṃ
tattvaṃ tatpadameti vastu paramaṃ vācyaṃ kimatrādhikam || 2 ||

(When Yogī sits) with half-opened eyes, unmoved mind, his vision is fixed on the tip of the nose, the moon and sun are dissolved in trispanda bhāva, when yogī realizes one ultimate puruṣa having the form of light and devoid of full outsideness. Then (that yogī) goes to that real ultimate goal, what should be told more here about it. || 2 ||

शब्दः कश्चन यो मुखादुदयते मन्त्रः स लोकोत्तरः
संस्थानं सुखदुःखजन्मवपुषो यत्कापि मुद्रैव सा।

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता, आठवाँ अध्याय, श्लोक ८
"अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥"

प्राणस्य स्वरसेन यत्प्रवहणं योगः स एवाद्भुतः
शाक्तं धाम परं ममानुभवतः किन्नाम न भ्राजते ॥ ३ ॥

जो कोई शब्द मुख से निकलता है, वही लोकोत्तर मन्त्र है । सुःख-दुःख के जन्मवाले शरीर का जो संस्थान है, वही विचित्र मुद्रा है । प्राण का जो स्वाभाविक प्रवाह है, वही अद्भुद योग है । जब मैं परम शाक्तधाम का अनुभव करता हूँ तब मुझे क्या नहीं दिखाई देता? (अर्थात् मुझे सब कुछ दिखाई देता है) ॥ ३ ॥

śabdaḥ kaścana yo mukhādudayate mantraḥ sa lokottaraḥ
saṃsthānaṃ sukhaduḥkhajanmavapuṣo yatkāpi mudraiva sā |
prāṇasya svarasena yatpravahaṇaṃ yogaḥ sa evādbhutaḥ
śāktaṃ dhāma paraṃ mamānubhavataḥ kinnāma na bhrājate || 3 ||

What so ever word comes out of the mouth that is unworldly mantra, the sitting of the body which is associated with pleasure pain and birth, is unique Mudrā. The spontaneous flow of the breath is strange yoga. I, who realize the ultimate abode of Śakti, what is that which is not known to me. (i.e. every thing is known to me) || 3 ||

मन्त्रः स प्रतिभाति वर्णरचना यस्मिन्न संलक्ष्यते
मुद्रा सा समुदेति यत्र गलिता कृत्स्ना क्रिया कायिकी ।
योगः स प्रथते यतः प्रवहणं प्राणस्य सङ्क्षीयते
त्वद्धामाधिगमोत्सवेषु सुधियां किं किं न नामाद्भुतम् ॥ ४ ॥

॥ इति अनुभवनिवेदनम् ॥

मन्त्र वह है जिसमें वर्णरचना दिखलाई नहीं पड़ती । वह मुद्रा उत्पन्न होती है जिसमें समस्त शारीरिक क्रियायें शान्त होजाती है । वह योग प्रतीत होता है जिसमें प्राण का प्रवाह क्षीण होजाता है । आपके पद की प्राप्तिरूपी उत्सव में विद्वानों को क्या-क्या अद्भुत प्रतीत नहीं होता? (अर्थात् सभी कुछ अद्भुद प्रतीत होता है) ॥ ४ ॥

mantraḥ sa pratibhāti varṇaracanā yasminna saṃlakṣyate
mudrā sā samudeti yatra galitā kṛtsnā kriyā kāyikī |
yogaḥ sa prathate yataḥ pravahaṇaṃ prāṇasya saṅkṣīyate
tvaddhāmādhigamotsaveṣu sudhiyāṃ kiṃ kiṃ na nāmāddhutam || 4 ||

|| iti anubhavanivedanam ||

Mantra is that where the alphabet system is not visible. Mudrā is that where all the bodily activities are stopped. Yoga is that where the inhalation and exhalation is stopped. In the function of achievment of Your place, what is not strange on the part of wise men. ॥ 4 ॥

॥ Thus the Anubhavanivednam of Abhinavagupta-pādācārya comes to an end ॥

...•...

रहस्यपञ्चदशिका
Rahasyapañcadaśikā

[इस स्तोत्र में कुल सैंतिस श्लोकों का संग्रह है । इसमें जीवनमुक्त, अभिनवगुप्त ने शिव की संविद्रूपा अनेक प्रकार की शक्तियों जैसे सरस्वती, शिवा, अम्बिका आदि की स्तुति की है । संविद् के स्वामी शिव अपनी शक्ति शिवा के माध्यम से पञ्चकृत्यों अर्थात् सृष्टि, स्थिति, विनाश, निग्रह और अनुग्रह करते रहते हैं । बिना उसके शिव न तो कुछ करते हैं, न जानते हैं और न ही इच्छा करते हैं । यही शक्ति (माया) अज्ञानी लोगों को त्वचा, रुधिर, मांसादि से परिपूर्ण सदैव रोगयुक्त शरीर में डुबोती रहती है । यही उसकी महिमा है । इस संविद्रूपा शक्ति का ज्ञान होने पर व्यक्त का सम्पूर्ण मोहमय ज्ञान नष्ट हो जाता है और वह शिवपद अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।

There is a collection of thirtyseven verses in this stotra. Life liberated Abhinavagupta has praised the many powers of consious form of the Lord Śiva. The lord of Saṁvid (consciousness) Śiva by his power Śivā does the Pañcakṛtya (five actions) namely the creation, manifestation, destruction, punishment and grace, without whom Śiva neither does any thing, nor knows and nor desire, merely this power in the form of Māyā (illusion) always uses to plunge the ignorant people in the diseased body, full of skin, blood and flesh etc. It is merely Her glory. Having been aware to this conscious power, worshiper's entire distinctive knowledge be disappears and he attains the place of Śivaness (Śivapada) i.e. [liberation.]

ब्राह्मे मुहूर्ते भगवत्प्रपत्ति
स्ततः समाधिर्नियमोऽथ सान्ध्यः ।
यामौ जपार्चादि ततोऽन्यसत्रं शेषस्तु-
कालः शिवशेषवृतिः(वृत्तिः)? ॥ १ ॥

ब्राह्म-मुहुर्त में भगवान् की प्रार्थना, समाधि के नियम, सन्ध्या का अभ्यास बाकी दो प्रहर में जप-पूजा आदि, उसके अतिरिक्त शेष समय शिवशेषवृत्ति के लिए होता है ॥ १ ॥

brāhme muhūrtte bhagavatprapatti
stataḥ samādhirniyamo'tha sāndhyaḥ |
yāmau japārcādi tato'nyasatraṃ śeṣastu-
kālaḥ śivaśeṣavṛttiḥ (1)vṛttiḥ || 1 ||

In the Brāhmamuhūrta (i.e. at 4.00 A.M.) the prayer of God, the Samādhi, then the practice of sandhyā. Then for two yāmas (i.e. six hours) japa and worship etc. then other works. The rest of the time is meant for Śiva Śeṣavṛtti. || 1 ||

आदिमुखा कादिकरा टादिपदा पादिपार्श्वयुङ्मध्या ।
यादिहृदया भगवती संविद्रूपा सरस्वती जयति ॥ २ ॥

अकारादि जिसका मुख है, ककारादि जिसके हाथ हैं, टकारादि जिसके पाद हैं, 'प' आदि जिसके दोनों पार्श्व एवं मध्य हैं, 'य' आदि जिसके हृदय हैं, वह संविद्रूपा सरस्वती सबसे बढ़कर है ॥ २ ॥

ādimukhā kādikarā ṭādipadā pādipārśvayuṅmadhyā |
yādihṛdayā bhagavatī saṃvidrūpā sarasvatī jayati || 2 ||

Goddess Sarasvatī is supermost. She is of the form of Saṁvid. 'a' etc. are her mouth 'ka' etc. are her hands, 'ṭa' etc. are feet, 'pa' etc. are sides and middle (i.e. waist) 'ya' etc. are heart, she is accomplished with (six) bhāgas viz. properities valour fame etc. || 2 ||

फलन्ति चिन्तामणिकामधेनुकल्पद्रुमाः कांक्षितमेव पुंसाम् ।
अप्रार्थिता न प्रचितान्पुमर्थान् पुष्णातु (ति) मे मातुरुदारभावः ॥ ३ ॥

चिन्तामणि, कामधेनु और कल्पवृक्ष मनुष्यों को वाञ्छित फल देते हैं लेकिन माता का उदारभाव बिना प्रार्थना के पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) को देता है ॥ ३ ॥

phalanti cintāmaṇikāmadhenukalpadrumāḥ kāṅkṣitameva puṃsām |
aprārthitā na pracitānpumarthān puṣṇātu (ti) me māturudārabhāvaḥ || 3 ||

Cintāmaṇi, Kāmadhenu and Kalpadruma give desired fruit only to the men. If they are not demanded to. (they) don't (give). But the generous thought of the Mother nourishes the (four) aims (i.e. Dharma, Artha, Kāma, Mokṣa) of men even though not demanded. || 3 ||

यया विना नैव करोति किञ्चिन्न वेत्ति नापीच्छति संविदेशः।
तस्यै परस्यै जगतां जनन्यै नमः शिवायै शिववल्लभायै॥ ४ ॥

जिसके बिना संविद् के स्वामी न कुछ करते हैं, न जानते हैं और न इच्छा करते हैं उस परासंसार की माता, शिव की प्रिया, शिवा को नमस्कार है ॥ ४॥

yayā vinā naiva karoti kiñcinna veti nāpīcchati saṃvideśaḥ ।
tasyai parasyai jagatāṃ jananyai namaḥ śivāyai śivavallabhāyai ॥ 4 ॥

Without whom the lord of Saṁvid, neither does any thing nor knows nor desires, (I) salute to that Ultimate Śivā the creater of the world and beloved of Śiva. ॥ 4 ॥

सदोदिते भगवति सर्वमङ्गले
शिवप्रदे शिवहृदयस्थिते शिवे ।
भजन्मनःकुमुदविकासचन्द्रिके
द्विजन्मनः कुरु मम खे गतिं परे ॥ ५ ॥

हे सदोदिते भगवति!, सर्वमङ्गले!, शिवप्रदे! शिव के हृदय में स्थित शिवे! भजन करनेवाले के मनरूपी कुमुद का विकास करने में चन्द्रिका के समान मुझ ब्राह्मण की गति परमाकाश में करो ॥ ५. ॥

sadodite bhagavati sarvamaṅgale
śivaprade śivahṛdayasthite śive ।
bhajanmanaḥkumudavikāsacandrike
dvijanmanaḥ kuru mama khe gatiṃ pare ॥ 5 ॥

O! ever manifesting Bhagavatī, auspicious to all, giver of good, residing in the heart of Śiva, Śive! the moon light for blossoming to white flower lily of the mind of devotees, do my entrance in the last sky i.e. the ultimate reality. ॥ 5 ॥

प्रसीद सर्वमङ्गले शिवे शिवस्य वल्लभे।
उमे रमे सरस्वति त्वमेव देवता परा ॥ ६ ॥

हे सर्वमङ्गले, शिवे, शिव की वल्लभे, उमे, रमे, सरस्वती प्रसन्न हो जाओ। तुम्हीं परादेवता हो ॥ ६ ॥

prasīda sarvamaṅgale śive śivasya vallabhe ।
ume rame sarasvati tvameva devatā parā ॥ 6 ॥

O! auspicious to all, Śivā. Beloved to Śiva, Umā. Ramā, Sarasvatī! be pleased (with me). You are only the ultimate Goddess. ॥ 6 ॥

अमे अम्बिके अस्वरूपे अनाख्ये
उमे रौद्रि वामे महालक्ष्मि माये ।

परे देवते पञ्चकृत्यैकलोले
शिवे भैरवि श्रीमति त्वां प्रपद्ये ॥ ७ ॥

हे अमे!, हे अम्बिके!, हे रूपरहित!, हे नामरहित!, हे उमे!, हे रौद्री!, हे वामे!, महालक्ष्मी!, माये!, परेदेवते!, पञ्चकृत्य में लीन शिवे!, भैरवी!, श्रीमति! मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ ॥ ७ ॥

ame ambike asvarūpe anākhye
ume raudri vāme mahālakṣmi māye |
pare devate pañcaktyekalole
śive bhairavi śrīmati tvāṃ prapadye || 7 ||

O! beyond measure! Mother, without figure, without name, Umā, Raudrī, Vāmā, Mahālakṣmī, Māyā, ultimate diety, engaged in five actions, Śivā, Bhairavī, full of lustre! (I) come to your shelter. || 7 ||

माये विद्ये मातृके मानिनि त्वं
काये काये स्पन्दसे चित्कलात्मा ।
ध्यायेयं तां त्वां कथं स्वस्फुरत्तां
ध्यायेयं त्वां वाचमन्तर्नदन्तीम् ॥ ८ ॥

हे माया!, हे विद्या!, हे मातृका!, हे मानिनी! तुम चित्कला आत्मा के रूप में प्रत्येक शरीर में स्पन्दन करती रहती हो । स्वयं स्फुरण करनेवाली तुम्हारा मैं कैसे ध्यान करूँ? मैं तुम्हारा ध्यान अन्तर्नाद करती हुई वाणी के रूप में करता हूँ ॥ ८ ॥

māye vidye mātṛke mānini tvaṃ
kāye kāye spandase citkalātmā |
dhyāyeyaṃ tāṃ tvāṃ kathaṃ svasphurattāṃ
dhyāyeyaṃ tvāṃ vācamantarnadantīm || 8 ||

O Māyā, Vidyā, Mātṛkā and Mānini! You move in every body in the form of citkalā. How can I meditate upon you who is dazzling by herself. I recollect you as the speech sounding in the body. || 8 ||

त्वग्रुधिरमांसमेदोमज्जास्थिमये सदामये काये ।
माये मज्जयसि त्वं माहात्म्यं ते जनानजानानान् ॥ ९ ॥

हे माया!, तुम त्वक्, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि से परिपूर्ण, सदा रोगमय शरीर में अज्ञानी जनों को सदा डुबोती रहती हो, यही तुम्हारी महिमा है ॥९॥

tvagrudhiramāṃsamedomajjāsthimaye sadāmaye kāye |
māye majjayasi tvaṃ māhātmyaṃ te janānajānānān || 9 ||

O Māyā to those men who do not know your greatness, you drawn in the body which is full of skin, blood, flesh, muscles, murrow and bone and is full of disease. || 9 ||

लोहालेख्यस्थापितान् वीक्ष्य देवान्
हा हा हन्तेत्याहुरेकेऽकृतार्थाः ।
देहाहन्ताशालिनां देहभाजां
मोहावेशं कं न माया प्रसूते ॥ १० ॥

लोहे के ऊपर चित्रित देवताओं को देखकर कुछ कृतघ्न लोग हा, हा हन्त, हन्त कहते हैं क्योंकि देह में अहंभाव रखनेवाले शरीरधारियों के मन में माया क्या-क्या मोहावेश उत्पन्न नहीं करती (अर्थात् अवश्य ही करती है) ॥ १० ॥

lohālekhyasthāpitān vīkṣya devān
hā hā hantetyāhureke'kṛtārthāḥ |
dehāhantāśālinām dehabhājām
mohāveśaṃ kaṃ na māyā prasūte || 10 ||

Having seen the Gods inscribed on the plate of the metal some ungrateful (persons) say alas! Alas! Fee! (thinking that) to those, bodily men who are accomplished with the idea of body-I-ness, what illusion is not produced by Māyā. || 10 ||

मायाविलासोदितबुद्धिशून्यकायाद्यहन्ताजनितादशेषात् ।
आयासकादात्मविमर्शरूपात् पायादपायात् परदेवता माम् ॥ ११ ॥

परदेवता माया के विलास के कारण उदित बुद्धि शून्य शरीरादि के प्रति अहन्ता से जनित प्रयास उत्पन्न करनेवाले सम्पूर्ण आत्मविमर्शरूप विनाश (पाय और अपाय) से मेरी रक्षा करें ॥ ११ ॥

māyāvilāsoditabuddhiśūnyakāyādyahantājanitādaśeṣāt |
āyāsakādātmavimarśarūpāt pāyādapāyāt paradevatā mām || 11 ||

May ultimate God protect me from destructive self-awareness which is straincreative, form of wit, vacuum, body and I-ness, produced from the playfullness of Māyā. || 11 ||

घोरात्मिकां घोरतमामघोरां
परापराख्यामपरां परां च ।
विचित्ररूपां शिवयोर्विभूतिं
विलोकयन् विस्मयमान आस्ते ॥ १२ ॥

मैं घोर, घोरतम, अघोर, परापरा, अपरा और परारूप में विचित्र रूप वाली शिव एवं शिवा की विभूति देखता हुआ आश्चर्य में हूँ ॥ १२ ॥

ghorātmikāṃ ghoratamāmaghorāṃ
parāparākhyāmaparāṃ parāṃ ca |
vicitrarūpāṃ śivayorvibhūtiṃ
vilokayan vismayamāna āste || 12 ||

(This I) is surprised having seen the splendour of both Śiva (and Śivā). (This splendour is) strange, ultimate, non-ultimate, unhorrible, the most horrible, and horrible. || 12 ||

परापरापरापरामरीचिमध्यवर्तिनो ।
न मे ऽभिदाभिदाभिदाभिदासु कश्चिदाग्रहः ॥ १३ ॥

परापरा और अपरा ज्योति के बीच में रहनेवाले मेरे मन में अभेद, भेद और भेदाभेद के विषय में कोई आग्रह नहीं है ॥ १३ ॥

parāparāparāparāmarīcimadhyavartino
na me 'bhidābhidābhidāsu kaścidāgrahaḥ || 13 ||

I, who always in the middle of Parā (ultimate) Parāparā (ultimate com nonultimate) and Aparā (nonultimate) have least interest in nondifference, difference nondifference cum-difference. || 13 ||

स्फुरति यत्तवरूपमनुत्तरं यदपरं च जगन्मयमम्बिके।
उभयमेतदनुस्मरतां सतामभयदे! वरदे! परदेवते! ॥ १४ ॥

हे अम्बिके! जो तुम्हारा यह अनुत्तर और जगन्मय रूप है, इन दोनों का स्मरण करनेवाले सज्जनों के लिए आप परदेवता अभय देनेवाली एवं वर देनेवाली होजाओ ॥ १४ ॥

sphurati yattavarūpamanuttaraṃ yadaparaṃ ca jaganmayamambike |
ubhayametadanusmaratāṃ satāmabhayade varade! paradevate! || 14||

O mother! Your form which shines as transcendental and other (immanent) i.e. worldly, those saints who recollect these two (forms) for them you are giver of fearlessness! O boon giver! O ultimate Goddess. || 14 ||

परमेश्वरि पञ्चकृत्यलीले परसंविन्मयि पार्वति! प्रसीद।
पतितं पशुपाशमुद्धरेमं शिशुमाश्वासय शीतलैः कटाक्षैः ॥ १५ ॥

हे परमेश्वरि! हे पञ्चकृत्यरूपी लीला करनेवाली परसंवित्मयि पार्वति! प्रसन्न होजाओ । पशुपाश में पतित इस शिशु का उद्धार करो और शीतल कटाक्षों से आश्वस्त करो ॥ १५ ॥

parameśvari pañcakṛtyalīle parasaṃvinmayi pārvati! prasīda! |
patitaṃ paśupāśamuddharemaṃ śiśumāśvāsaya śītalaiḥ kaṭākṣaiḥ || 15 ||

O ulitimate Goddess! O player of five actions! O full of ultimate consciousness! Pārvati! be pleased with me. Take out this child who has fallen on the net of paśutva. Pacify (me) from cold eyeglimps. || 15 ||

विवर्तते (प्रवर्तते)?ऽनुवर्तते हि वर्तते च यत्र स-
न्नयं षडध्वडम्बरः (सन्निदं षडध्वडंवर)? त्वमेव तच्चिदम्बरम् ॥१६॥

जिसमें यह षडध्व का विस्तार प्रवृत्त होता है, अनुवृत्त होता है और सत्ता में आता है, तुम वही चिदाकाश हो ॥ १६ ॥

vivartate (pravartate) 'nuvartate hi vartate ca yatra sa-
nnayaṃ ṣaḍadhvaḍambaraḥ (sannidaṃ ṣaḍadhvaḍaṃvara) tvamev'a
taccidambaram || 16 ||

Where this group of six ways changes, repeats, exists, you are that very sky of conciousness. || 16 ||

अज्ञानामसमर्थानामस्थानाभिनिवेशिनाम् ।
अम्ब त्वं बलमस्माकं शिशूनां शिववल्लभे ॥ १७ ॥

हे शिववल्लभे! अज्ञानी, असमर्थ और अनुचित स्थान में श्रद्धा रखने वाले हमारे जैसे शिशुओं का, हे अम्बा! तुम्ही शक्ति हो ॥ १७ ॥

ajñānāmasamarthānāmasthānābhiniveśinām |
amba tvaṃ balamasmākaṃ śiśūnāṃ śivavallabhe || 17 ||

O mother! O beloved of Śiva! You are the strength of (like) us who are ignorants, incapables, and have inclination in unsuitable places. || 17 ||

वेदप्रसिद्धाद्विविधप्रभावात् पादप्रभावात्परदेवतायाः ।
छेदप्रदा स्वात्ममहाविभूतेर्भेदप्रथा मे सकला निवृत्ता ॥ १८ ॥

वेद में प्रसिद्ध विविध प्रभाववाले परदेवता के चरणप्रभाव से मेरी स्वात्म महाविभूति को नष्ट करनेवाली समस्त भेदप्रथा निवृत्त हो गयी ॥ १८ ॥

vedaprasiddhādvividhaprabhāvāt pādaprabhāvātparadevatāyāḥ |
chedapradā svātmamahāvibhūterbhedaprathā me sakalā nivṛttā || 18 ||

Due to impact of ultimate Goddess' feet which is famous in the Vedas and has various effects, my complete thought of

difference which is destroyer of big splendour of the self, has been finished. || 18 ||

वीरबाधकविपक्षभक्षिणी धीरसाधकसपक्षरक्षिणी ।
साक्षिणी मम सदाधितिष्ठतः साक्षिणी सकलसंविदां परा ॥ १९ ॥

वीराचारी साधकों के बाधकरूपी विपक्ष की भक्षिणी, धीरसाधकों की सपक्ष रक्षिणी, समस्त संविदाओं की अन्तिम साक्षिणी, सदा अधिष्ठित मेरी साक्षिणी हो ॥ १९ ॥

vīrabādhakavipakṣabhakṣiṇī dhīrasādhakasapakṣarakṣiṇī |
sākṣiṇī mama sadādhitiṣṭhataḥ sākṣiṇī sakalasaṃvidāṃ parā || 19 ||

The ultimate witness of all consciousness, who is the eater of the opponent and troublesome persons of Vīras (= Vira sādhakas), the protector of friends of constant Sādhakas, is witness to me who is always engaged in divine practice. || 19 ||

सच्चिदम्ब सकलं त्वदात्मकं त्वत्त उद्भवति लीयते त्वयि ।
भामती भगवती स्वयेच्छया केन नैव वपुषा प्रकाशसे ॥ २० ॥

हे सच्चित् माता! यह सब आपसे व्याप्त है, आपसे ही उत्पन्न होता है और आपमें ही लीन होता है । प्रकाशवती तथा ऐश्वर्य से युक्त आप अपने किस शरीर से नहीं प्रकाशित होतीं? (अर्थात् सभी से प्रकाशित होती हैं) ॥ २० ॥

saccidamba sakalaṃ tvadātmakaṃ tvatta udbhavati līyate tvayi |
bhāmatī bhagavatī svayecchayā kena naiva vapuṣā prakāśase || 20 ||

O being and conscious mother! All is identical to you. It is born of you and annihilates in you. You are full of radiance, grandeur, through which body you do not manifest at your accordance. || 20 ||

निर्द्वन्द्वचिद्घननिजात्मधृताध्वषट्के
दोर्द्वन्द्वसङ्कलितपुस्तकबोधमुद्रे ।
नेत्रैस्त्रिभिः शिखिरवीन्दुमयैर्दयार्द्रैः
मातः शिवं कुरु शिवे शरणागतं माम् ॥ २१ ॥

निर्द्वन्द्व चिद्घन अपने स्वरूप में षडध्वा को धारण करनेवाली दोनों भुंजाओं में पुस्तक और व्याख्यामुद्रा धारण करनेवाली माता शिवे! आप शरणागत मेरी अग्नि, सूर्य, चन्द्रमावाले दयार्द्र तीनों नेत्रों से मेरा कल्याण करो ॥ २१ ॥

nirdvandvaciddhananijātmadhṛtādhvaṣaṭke
dordvandvasaṅkalitapustakabodhamudre

netraistribhiḥ śikhiravīndumayairdayārdraiḥ
mātaḥ śivaṃ kuru śive śaraṇāgataṃ mām ॥ 21 ॥

O Mother. O Śive! do good to me who has come to your shelter, by pitiful three eyes which are identical to fire, sun and moon. O You! Who sustains six ways by her unparellel compact conciousness, O You! Who by her two hands holds book (i.e. veda) and posture of knowledge. ॥ 21 ॥

मुग्धा पुस्तकहस्ता मुग्धेन्दुकलाललाटनेत्रवती ।
शारदशशाङ्कधवला दयामयी कापि देवता जयति ॥ २२ ॥

सरल, हाथ में पुस्तक लिए हुई, मनोहारी, चन्द्रकलारूपी नेत्र को ललाट में धारण किए हुई शारदीय चन्द्रमा के समान स्वच्छ, दयामयी कोई अद्भुत देवता सबसे बढ़कर है ॥ २२ ॥

mugdhā pustakahastā mugdhendukalālalāṭanetravatī ।
śāradaśaśāṅkadhavalā dayāmayī kāpi devatā jayati ॥ 22 ॥

Some strange pitiful Goddess is supreme, who is charming, bearing book in hand, has eye of white part of moon on forehead, is neat and clean like the moon of Autumn. ॥ 22 ॥

सत्त्वभूतिनिजमूर्तिसम्भवत्तत्त्वभूतिपुरशालिपालिकाम् ।
हस्तयुग्मधृतपुस्तकतूलिकां बालिकां परिचिनोमि तां पराम्॥ २३ ॥

मैं उस पराबालिका का ध्यान करता हूँ जो दोनों हाथों में पुस्तक और तूलिका धारण की है तथा अपनी महासत्ता स्वरूप से उत्पन्न तत्त्वों के सुन्दर नगर की रक्षिका है ॥ २३ ॥

sattvabhūtinijamūrtisambhavattattvabhūtipuraśālipālikām ।
hastayugmadhṛtapustakatūlikāṃ bālikāṃ paricinomi tāṃ parām ॥ 23॥

I have acquaintance with that ultimate girl who holds brush and book in her two hands; is protector of the beautiful city of elements born of her own figure of great entity. ॥ 23 ॥

चन्द्रमुखि चन्द्रधरिणि चन्द्रनिभे चन्द्रमण्डलान्तःस्थे ।
चन्द्राभरणकुटुम्बिनि चन्द्रादित्याग्निलोचने रक्ष ॥ २४ ॥

हे चन्द्रमुखी ! हे चन्द्रधारिणी ! चन्द्रनिभे !, चन्द्रमण्डल के अन्दर रहनेवाली चन्द्रमा के आभरणों को धारण करनेवाली तथा चन्द्र, सूर्य और अग्नि रूप नेत्रोंवाली ! मेरी रक्षा करो ॥ २४ ॥

candramukhi candradhariṇi candranibhe candramaṇḍalāntaḥsthe |
candrābharaṇakuṭumbini candrādityāgnilocane rakṣa || 24 ||

O moon-faced! O moon-holder! O moonlike! O living in the halo of the moon! O bearing ornaments of moon! O having eyes of moon, sun and fire, please protect me. || 24 ||

महा(मही?)मूलमायोर्ध्वशक्त्यण्डरत्न
प्रभाकीर्णसौवर्णपीठाधि (पीणधि?) रूढा ।
सृजन्ती बहिर्विश्वमन्तश्च संवित्
परा देवताहम्परामर्शरूपा ॥ २५ ॥

परासंविद्रूपी देवी, जो कि अहंपरामर्शरूप है आभ्यन्तर एवं बाह्य संसार की रचना करती है, वह उस स्वर्ण के आसन पर बैठी हुई है जो कि मायाण्ड के ऊपर स्थित शाक्ताण्ड के रत्नों से प्रकाशित है ॥ २५ ॥

mahā (mahī) mūlamāyordhvaśaktyaṇḍaratna
prabhākīrṇasauvarṇapīṭhādhi (pīṇadhi rūḍhā) |
sṛjantī bahirviśvamantaśca saṃvit
parā devatāhamparāmarśarūpā || 25 ||

Goddess Parāsaṁvit who is of the form of Ahaṁ parāmarśa (= I-awareness), creates inner and outer world while sitting on the golden seat which is flashed with the light of the jewel of Śakti-aṇḍa existing above the Māyā, the big root (of the world). || 25 ||

सौवर्णपीठमारूढां जाग्रतीमग्रपृष्ठयोः ।
चिच्चक्रवर्तिमहिषीं वन्दे तां देवतां पराम् ॥ २६ ॥

जो सोने की पीठ पर बैठी हुई अग्रभाग और पृष्ठभाग के विषय में सावधान चित्चक्र में रहनेवाली महिषी परादेवता की वन्दना करता हूँ ॥ २६ ॥

sauvarṇapīṭhamārūḍhāṃ jāgratīmagrapṛṣṭhayoḥ |
ciccakravartimahiṣīṃ vande tāṃ devatāṃ parām || 26 ||

I salute to that ultimate Goddess who is, empress of cit (= conciousness), aware of front and back and sitting on the golden-seat. || 26 ||

सौवर्णसम्पुटकमध्यभुवि प्रविष्टं
ऊर्ध्वाधराननिपीतविसृष्टसृष्टि ।
सारस्वतं किमपि रत्नमयत्नसिद्धं
जागर्ति यस्य हृदये जगतां स ईष्टे ॥ २७ ॥

जो सोने के सम्पुटक के मध्य भाग में प्रविष्ट है । ऊपर और नीचे के मुख से सृष्टि का प्रलय एवं संहार करता है । स्वभावसिद्ध ऐसा अद्भुत सारस्वत रत्न जिसके हृदय में विद्यमान है वह संसार का स्वामी होजाता है ॥ २७ ॥

sauvarṇasampuṭakamadhyabhuvi praviṣṭaṃ
ūrdhvādharānananipītavisṛṣṭasṛṣṭi ।
sārasvataṃ kimapi ratnamayatnasiddhaṃ
jāgarti yasya hṛdaye jagatāṃ sa īṣṭe ॥ 27 ॥

He is the lord of the world in whose heart the selfborn strange jewel of Sārasvata which is sitting on the mid-ground of golden casket creating the world through lower mouth and annihilating it through upper mouth. ॥ 27 ॥

यत् सञ्चराचरमिदं तदशेषमिच्छा-
ज्ञानक्रियाभिरनुविध्य यया विसृष्टम् ।
स्वस्मिन्ननुत्तरपदेन्तरहन्तयास्ते
सासौ परा त्वमसि शक्तिरुमे शिवस्य ॥ २८ ॥

जो यह चराचर जगत् है वह सम्पूर्णरूप से जिसके द्वारा इच्छा, ज्ञान, क्रिया से अनुविद्ध कर बनाया गया है और जो अपने अनुत्तरपद में अहन्ता के रूप में विराजमान है, हे शिव की पराशक्ति! वह तुम ही हो ॥ २८ ॥

yat sañcarācaramidaṃ tadaśeṣamicchā-
jñānakriyābhiranuvidhya yayā visṛṣṭam ।
svasminnanuttarapadentarahantayāste
sāsau parā tvamasi śaktirume śivasya ॥ 28 ॥

O Umā! You are that ultimate power of Śiva, who lies in the form of 'Ahaṁ' inside your own Anuttara seat, and by whom all this present stayic and dynamic (world) is created through the cause of Icchā, Jñāna and Kriyā. ॥ 28 ॥

स्वस्मिन्ननुत्तरविसर्गमये सदन्तः
संविन्मये सकलमेव सदा शिवाद्यम् ।
इच्छादिशक्तिभिरिदं बहिरात्मनासौ
सा त्वं शिवस्य दयिते विसृजस्यजस्रजम् ॥ २९ ॥

हे शिव की दयिते! तुम अपने अनुत्तर विसर्गमय तथा अन्त:सविन्मय में शिव से लेकर पृथिवी तक, अपनी इच्छादि शक्तियों से बाह्यरूप में भी निरन्तर सृजन करती रहती हो ॥ २९ ॥

svasminnanuttaravisargamaye sadantaḥ
saṃvinmaye sakalameva sadā śivādyam |
icchādiśaktibhiridaṃ bahirātmanāsau
sā tvaṃ śivasya dayite visṛjasyajasrajam || 29 ||

O beloved of Śiva! In your Anuttara visarga form (this universe) remains in the form of sat (= being) and in the form of Saṁvid you always create all Śiva etc. by the power namely Icchā etc. you create this outworldly continuously. || 29 ||

याऽसौ स्फुरस्यखिलशक्त्यविभागमूर्तेः
स्वौजःकृता भगवतः प्रथमा विभक्तिः ।
सत्त्वादिहेतुमखिलस्य पदार्थराशे-
स्तां त्वां सदाम्ब विमृशन् विजयी भवेयम् ॥ ३० ॥

सम्पूर्ण शक्ति के अविभक्त मूर्तिवाले भगवान् परमशिव की अपने ओज के द्वारा की गयी जो प्रथम विभक्ति अर्थात् विभूति के रूप में स्फुरित होती है समस्त पदार्थराशि की सृष्टि, स्थिति और विनाश की जो हेतु है । हे माँ! उसे आपका ध्यान करता हुआ मैं विजयी होजाऊँ ॥ ३० ॥

yā'sau sphurasyakhilaśaktyavibhāgamūrteḥ
svaujaḥkṛtā bhagavataḥ prathamā vibhaktiḥ |
sattvādihetumakhilasya padārtharāśe-
stāṃ tvāṃ sadāmba vimṛśan vijayī bhaveyam || 30 ||

O mother! I shall be Victorious remembering always to that You who is the cause of creation etc. (preservation and destruction) of all; and who manifests in the form of first creation created by the own power of that Lord who is undivided form (identical to) of the whole power. || 30 ||

भुक्तिमुक्त्युभयप्राप्तिर्यदृच्छालब्धया यया ।
पुंसां पुण्यकृतां साऽसौ श्रीरन्तर्वसति स्थिरा ॥ ३१ ॥

जो भोग और मोक्ष दोनों की प्राप्ति अपनी इच्छानुसार करती है, वह लक्ष्मी पुण्यवान् पुरुषों के अन्दर स्थायीरूप से रहती है ॥ ३१ ॥

bhuktimuktyubhayaprāptiryadṛcchālabdhayā yayā |
puṃsāṃ puṇyakṛtāṃ sā'sau śrīrantarvasati sthirā || 31 ||

That Majesty which willing by attained one, both the enjoyment (of the world) and liberation are achieved. Exists permanently in the heart of virtuous men. || 31 ||

मूलाधारमुखोदितोदिततडित्स्फारस्फुरत्तामयी
कालाग्न्यादिशिवान्तचित्ररचनावैचित्र्यलोला सदा ।
लीलापुस्तकलेखिनीधरकरा चिच्चन्द्रविम्बास्थिता
बाला काचन देवता शिवकथालीलानुकूला परा ॥ ३२ ॥

मूलाधार के मुख में उदित विद्युत के चमक की स्फुरत्तावाली कालाग्नि रुद्र से लेकर शिवपर्यन्त विभिन्न प्रकार की रचना के वैचित्र्य से चञ्चल हाथ में लीलापुस्तक, लेखनी धारण की हुई चितूरूपी चन्द्रबिम्ब में स्थित शिवकथा की लीला के अनुकूल कोई बालादेवता अद्भुत है ॥ ३२ ॥

mūlādhāramukhoditoditataḍitphārasphurattāmayī
kālāgnyādiśivāntacitraracanāvaicitryalolā sadā |
līlāpustakalekhinīdharakarā ciccandravimbāsthitā
bālā kācana devatā śivakathālīlānukūlā parā || 32 ||

There is some strange ultimate Girl Goddess originater of the play of Śiva's story. She is existing on the moon of consciousness (cit). bear playing (lotus) book (Ṛgveda), pen and sword, has radiant dazzling of lightening born of the front of Mūlādhāra. || 32 ||

संविन्मूलालवाला त्रिवलयकलिता वीजशक्त्यात्मगर्भा
या सा सौदामिनीव स्फुरति परशिवज्योतिरक्रूररूपा ।
सैषा शाखोपशाखोदितकुसुमफलव्याप्तविश्वावकाशा
धीश्रीविश्रान्तभूमिः शरणमुपयतां कल्पनाकल्पवल्लीम्॥ ३३ ॥

जो पराशिव की अक्रूररूपा ज्योति संविद् की मूल आलवाल है, तीन वलय से बनी हुई है, बीजरूपी शक्ति को अपने अन्दर छिपाई हुई है, वह सौदामिनी के समान स्फुरित हो रही है, वह शाखा उपशाखा में उगे हुए फूलों एवं फलों से व्याप्त विश्व के अवकाशवाली है, वह कल्पनारूपी कल्पवृक्ष के शरण में जानेवालों के लिए शरण, आनेवालों की बुद्धि और लक्ष्मी की शरणस्थली है ॥ ३३ ॥

saṃvinmūlālavālā trivalayakalitā vījaśaktyātgarbhā |
yā sā saudāminīva sphurati paraśivajyotirakrūrarūpā |
saiṣā śākhopaśākhoditakusumaphalavyāptaviśvāvakāśā
dhīśrīviśrāntabhūmiḥ śaraṇamupayatāṃ kalpanākalpavallīm || 33 ||

That uncruel light of Parama Śiva shines like lighting. She has Ālavāla (= trench around the plant for water) of Saṁvid, made of three rounds, hiding the seed of power in her womb. That one has pervaded the void of universe with the fruits and flowers grown

on the branches and sub-branches (of the world). Who is the last limit of wisdom and wealth and Kalpa-tree due to the desires of those who have come to her shelter. ॥ 33 ॥

सदंशं चिदंशे चिदंशं मुदंशे
मुदंशं निरंशे तुरीये विलाप्य ।
परं शम्भुमेवाविशेद(आविशन्न)? प्रमेयं
प्रमेयप्रमाणप्रमातृप्रकाशम् ॥ ३४ ॥

सदंश को चिदंश में, चिदंश को आनन्दांश में, आनन्दांश को चतुर्थ निरंश में विलीन करके प्रमेय, प्रमाण और प्रमाता के प्रकाशक अप्रमेय परशिव में प्रवेश करना चाहिए ॥ ३४ ॥

sadaṃśaṃ cidaṃśe cidaṃśaṃ mudaṃśe
mudaṃśaṃ niraṃśe turīye vilāpya ।
paraṃ śambhumevāviśeda (āviśanna) prameyaṃ
prameyapramāṇapramātṛprakāśam ॥ 34 ॥

Having dissolved the being into consciousness, the consciousness into bliss and the bliss into the partless fourth stage, one should identify one self with ultimate Śambhu. Who is beyond cognition and the illuminater of cognizable, evidence and cognizer. ॥ 34 ॥

दक्षिणं पश्चिमं पूर्वमुत्तरन्तु निरुत्तरम् ।
इदं परं पदं तस्मात् (देः......सभापारम्)? ॥ ३५ ॥

दक्षिण, पश्चिम और पूर्व, उत्तर, निरुत्तर, यह परम पद है ॥ ३५ ॥

dakṣiṇaṃ paścimaṃ pūrvamuttarantu niruttaram ।
idaṃ paraṃ padaṃ tasmāt (deḥ......sabhāpāram) ॥ 35 ॥

The south, the west the north and that is the last. This is last place there fore. (one should try to go to that). ॥ 35 ॥

..............................पालयेत् परमेश्वरीम् ।
अभेदेनाधिशय्यैनां(अतिशय्येन)? जीवन्मुक्तो भवेज्जनः ॥ ३६ ॥

..........अभेद के साथ इसपर अधिष्ठित होकर मनुष्य को जीवनमुक्त होना चाहिए ॥ ३६ ॥

....pālayet parameśvarīm ।
abhedenādhiśayyaināṃ (atiśayyena) jīvanmukto bhavejjanaḥ ॥ 36 ॥

(One should) nourish the ultimate Goddess (as alpervasive and identical to the world) depending upon as identical to her the man becomes jīvanmukta. ॥ 36 ॥

पूर्वसिद्धान् गुरून् देवान् देवीं नत्वाऽथ योगिनः ।
इमेऽभिनवगुप्तेन श्लोकाः पञ्चदशोदिताः ॥ ३७ ॥

॥ इति रहस्यपञ्चदशिका ॥

पूर्वसिद्ध गुरुओं, देवताओं, देवी और योगियों को नमस्कार कर अभिनवगुप्त ने इन पन्द्रह श्लोकों की रचना की ॥ ३७ ॥

pūrvasiddhān gurūn devān devīṃ natvā'tha yoginaḥ ।
ime'bhinavaguptena ślokāḥ pañcadaśoditāḥ ॥ 37 ॥

॥ iti rahasyapañcadaśikā ॥

Having saluted the previous Siddhas, Gurus, Gods, Goddesses and yogins these fifteen ślokas have been composed by Abhinvagupta. ॥ 37 ॥

॥ Thus the Rahasyapañcadaśikā of Abhinavagupta-pādācārya comes to an end ॥

पञ्चश्लोकी
Pañcaślokī

[इस स्तोत्र में कुल पाँच श्लोक हैं । इसी कारण इसे 'पञ्चश्लोकी' कहा जाता है । इस स्तोत्र के अतिरिक्त अन्य सभी स्तोत्रों को प्रो. के. सी. पाण्डेय ने अपनी पुस्तक में प्रकाशित किया था । मैंने इसे अपने शोधप्रबन्ध में सर्वप्रथम अभिनवगुप्त के स्तोत्रों में सम्मिलित किया और इसे 'आत्मनिवेदन-स्तोत्र' नाम दिया क्योंकि इसमें भक्त का अपने इष्ट से निवेदन है । इसमें शिव की विश्वोतीर्ण अवस्था का वर्णन है । अभिनवगुप्त पादाचार्य का विचार है कि बिना पूर्ण समर्पण के उस परम चैतन्य अथवा परमसत्ता से एकात्म्यभाव 'अर्थात् मोक्ष धाम' नहीं प्राप्त किया जा सकता है ।

Because of containing five verses this stotra is known as Pañcaślokī. In this stotra, the transcendental Śiva who is formless and beyond all approaches even imagination and dream etc. has been praised. There is no other means except the complete dedication in his lotus feet to attain the identity with that Hightst Reality. It is to be noted here that except this all other stotras previously stated were published by Prof. K.C. Pandey in his book but this one has been added to the works of Abhinavagupta first time in my thesis by me and was named Ātmanivedanam.]

यत्सत्यं तु मया कृतं मम विभो कृत्यं तु नातः परं
यन्मन्मानसमैशपादकमले भक्त्या मयैवार्पितम् ।
सर्वस्वमत एवमेतदितरन्नास्त्येव जानाम्यत-
स्त्यक्त्वा क्षिप्रमनाथनाथ करुणासिन्धो प्रसन्नो भव ॥ १ ॥

हे प्रभो! जो मैंने किया वास्तव में उससे बढ़कर कोई कृत्य नहीं है जो कि मैंने अपने मन को भक्तिपूर्वक ईश्वर के चरणकमलों में अर्पित कर दिया । इसलिए इससे अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है, यह मैं जानता हूँ, अतः सब कुछ छोड़कर हे अनाथ के नाथ! हे करुणासिन्धु! मेरे ऊपर प्रसन्न हो जाइये ॥ १ ॥

yatsatyaṃ tu mayā kṛtaṃ mama vibho kṛtyaṃ tu nātaḥ paraṃ
yanmanmānasamaiśapādakamale bhaktyā mayaivārpitam |

sarvasvamata evametaditarannāstyeva jānāmyata-
styaktvā kṣipramanāthanātha karuṇāsindho prasanno bhava ‖ 1 ‖

O pervasive! really what I have done, there is no other deed than this. The deed is that I by myself have dedicated my mind to the divine lotus feet. I know that this is entire thing and there is nothing other than this. That is why I have thrown away all very soon. O protector of unprotected! O the Ocean of pity! be pleased. ‖ 1 ‖

महेश त्वद्द्वारि स्फुरतु रुचिरा वागतितरां
ममैषा निर्दोषं जय जय महेशेति सततम् ।
शिवा सैषा वाणी भवतु शिवदा मह्यमनिशं
महेशानाथं मां शरणद सनाथं कुरु विभो ॥ २ ॥

हे महेश! आपके द्वार पर मेरी यह रुचिर वाणी निरन्तर जय-जय महेश करती रहे । वह कल्याणमयी वाणी मेरे लिए सतत् कल्याणप्रद हो । हे महेश! हे शरणदाता प्रभो! मुझ अनाथ को सनाथ करो ॥ २ ॥

maheśa tvaddvāri sphuratu rucirā vāgatitarāṃ
mamaiṣā nirdoṣaṃ jaya jaya maheśeti satatam ।
śivā saiṣā vāṇī bhavatu śivadā mahyamaniśaṃ
maheśānāthaṃ māṃ śaraṇada sanāthaṃ kuru vibho ‖ 2 ‖

O Great God! may my eloguent voice shine continuously at your door excessively and faultlessly. This voice is victory victory to Maheśa. May this goodgiver voice be ever bestower of good upon me. O Maheśa! O giver of shelter! O pervasive! make protected to me who is without protection. ‖ 2 ‖

ब्रूषे नोत्तरमङ्ग पश्यसि न मामेतादृशं दुःखितं
विज्ञप्तिं बहुधा कृतां न श्रृणुषे नायासि मन्मानसे ।
संसारार्णवगर्तमध्यपतितं प्रायेण नालम्बसे
वाक्चक्षुःश्रवणाङ्घ्रिणादिरहितं त्वामाह सत्यं श्रुतिः ॥ ३ ॥

हे भगवान्! आप उत्तर नहीं देते और इस प्रकार से दुःखी मुझे देखते नहीं । मेरे द्वारा की गई विज्ञप्ति को सुनते नहीं और मेरे मन में आते नहीं । संसाररूपी समुद्र के गर्त के मध्य में पतित मुझे सहारा नहीं देते, वेदों ने जो तुम्हें वाक्, चक्षु, श्रवण, पाद आदि से रहित कहा, वह सत्य है ॥ ३ ॥

brūṣe nottaramaṅga paśyasi na māmetādṛśaṃ duḥkhitaṃ
vijñaptiṃ bahudhā kṛtāṃ na śṛṇuṣe nāyāsi manmānase ।

saṃsārārṇavagartamadhyapatitaṃ prāyeṇa nālambase |
vākcakṣuḥśravaṇāṅghriṇādirahitaṃ tvāmāha satyaṃ śrutiḥ || 3 ||

Well! you neither respond nor look to me who is such a sufferer. Inspite of many notices you do not hear, nor you flash in my mind, nor you give support to me who is fallen in the bottom of worldly ocean. It mean that the Vedas really have told that you are without tongue, eye, ear, foot and hand is true. || 3 ||

गुरोर्वाक्याद् युक्तिप्रचयरचनोन्मार्जनवशात्
समाश्वासाच्छास्त्रं प्रति समुचिताद्वापि कथितम् ।
विलीने शङ्काभ्रे हृदयगगनोद्भासिमहसः
प्रभोः सूर्यस्येव स्पृशतु चरणान् ध्वान्तजयिनः ॥ ४ ॥

गुरु के वाक्य से, तर्कसमूहों के द्वारा रचना के उन्मार्जन से, शास्त्रों के प्रति विश्वास से अथवा समुचित के द्वारा शङ्कारूपी बादल के विलीन हो जाने पर, हृदयगगन में चमकनेवाले सूर्य के समान तेजस्वी अन्धकार को दूर करने वाले भगवान् के चरणों को स्पर्श करो ॥ ४ ॥

gurorvākyād yuktipracayaracanonmārjanavaśāt
samāśvāsācchāstraṃ prati samucitādvāpi kathitam |
vilīne śaṅkābhre hṛdayagaganodbhāsimahasaḥ
prabhoḥ sūryasyeva spṛśatu caraṇān dhvāntajayinaḥ || 4 ||

Either due to preaching of Guru, or by removing the group of arguments, or due to perfect belief in the stated scriptures, when the clouds of doubts are vanished, touch the feet of Lord i.e. Guru who is just like sun, the conqurer of darkness i.e. one science as well as the enlighter of cordial space. || 4 ||

यातस्त्वत्सहवासतो बहुतरः कालो वतास्मिन् क्षणे
किं किं वा न कृतं त्वया वरगुरूपासानिमित्तेन मे ।
वारं वारमहं पुनर्निरुपमां दिव्यं भुवं प्रासुव-
त्कायस्त्वां किल विस्मरामि यदतः स्थेयं न भूयस्त्वया ॥ ५ ॥

॥ इति पञ्चश्लोकी ॥

तुम्हारे सहवास के कारण बहुत समय बीत गया और इस क्षण में श्रेष्ठ गुरु की उपासना के द्वारा आपने क्या-क्या नहीं किया? मैं बारम्बार अनुपम दिव्य पृथिवी पर जन्म लेकर तुम्हें भूल जाता हूँ, अतः आप पुनः मेरे अन्दर मत रहिए ॥ ५ ॥

yātastvatsahavāsato bahutaraḥ kālo vatāsmin kṣaṇe
kiṃ kiṃ vā na kṛtaṃ tvayā varagurūpāsānimittena me |
vāraṃ vāramahaṃ punarnirupamāṃ divyaṃ bhuvaṃ prāsuva-
tkāyastvāṃ kila vismarāmi yadataḥstheyaṃ na bhūyastvayā || 5 ||

|| iti pañcaślokī ||

Much time has passed living along with you and in this moment through the worship of guru every thing has been done by you. I take birth on this matchless divine earth again and again, still I forget you, therefore, you please do not live in me. || 5 ||

|| Thus the Pañcaślokī of Abhinavaguptapādācārya comes to an end ||

पारिभाषिक शब्दावली

Glossary

1. भावना (अनुत्तराष्टिका, श्लोक 1) [bhāvanā (Anuttarāṣṭikā) śloka 1]—भक्त के हृदय में अपने इष्टदेव के प्रति उत्पन्न होनेवाला श्रद्धा से पूर्ण विचार । [The rising faithful thought to his desired Supreme Lord in the heart of worshiper.]
2. कथायुक्ति (उपर्युक्त) [kathāyukti (Anuttarāṣṭikā) śloka 1]—तर्कयुक्त विचार । [Logical thought.]
3. चर्चा (उपर्युक्त) [carcā (Anuttarāṣṭikā) śloka 1]—इष्टदेव की प्राप्ति का विचार । [Thought of attaining of wished God.]
4. ध्यान (उपर्युक्त) [dhyāna (Anuttarāṣṭikā) śloka 1]—विचार की एकतानता । [Continuous buzzing of thought.]
5. धारणा (उपर्युक्त) [dhāraṇā (Anuttarāṣṭikā) śloka 1]—किसी विषय पर चित्त को एकाग्र करना । [Concentration of mind on any subject.]
6. जप (उपर्युक्त) [japa (Anuttarāṣṭikā) śloka 1]—किसी एक मन्त्र का बारम्बार उच्चारण अथवा ध्यान। [Chanting of a mantra again and again or buzzing.]
7. मुक्तिक्रिया (उपर्युक्त, श्लोक 2) [muktikriyā (Anuttarāṣṭikā) śloka 2]—मुक्ति के कर्म अथवा उपाय । [Deed or effort for liberation.]
8. प्रवेशक्रम (उपर्युक्त, श्लोक 3) [praveśakrama (Anuttarāṣṭikā) śloka 3]—प्रतिपादित उपायों में प्रविष्ट होने का क्रम । [The entrance order among the established means.]
9. प्रकाशोदय (उपर्युक्त, श्लोक 4) [prakāśodaya (Anuttarāṣṭikā) śloka 4]—आध्यात्मिक प्रकाश का जन्म । [Birth of spiritual light.]
10. संविद् (उपर्युक्त) [saṃvid (Anuttarāṣṭikā) śloka 4]—शिव की विमर्शशक्ति, चैतन्य । [The vimarśa power of Lord Śiva, consciousness.]

11. भवक्रिया (उपर्युक्त, श्लोक 6) [bhavakriyā (Anuttarāṣṭikā) śloka 6]—उत्पन्न होने का कार्य । [The action of arising.]
12. विमर्श (उपर्युक्त, श्लोक 8) [vimarśa (Anuttarāṣṭikā) śloka 8]—परमेश्वर की शक्ति अथवा अपना चिन्तन। [The power of Lord Śiva or thinking of its own.]
13. प्रतिस्विकी (परमार्थचर्चा, श्लोक 2) [pratisvikī (Paramārtha-carcā) śloka 2]—प्रत्येक व्यक्ति से सम्बद्ध। [Related to each person.]
14. भैरवनाथ (उपर्युक्त, श्लोक 7) [bhairavanātha (Paramārthacarcā) śloka 7]—शिव का पर्याय । [A name of Lord Śiva.]
15. निष्कलः (महोपदेशविंशतिकम्, श्लोक 10) [niṣkalaḥ (Maho-padeśaviṃśatikam) śloka 10]—कला रहित । [The powerless-ness.]
16. पारणविधि (क्रमस्तोत्रम्, श्लोक 1) [pāraṇavidhi (Kramastotram) śloka 1]—व्रत अनुष्ठानादि के बाद अन्नादि के ग्रहण का नियम । [The rule of taking food-grain etc. after the fast, performances.]
17. षट्चक्रम् (उपर्युक्त, श्लोक 21) [ṣaṭcakram (Kramastotram) śloka 21]—मूलाधार आदि छः चक्र । [Mūlādāra etc. six circles (cakras).]
18. योग (उपर्युक्त, श्लोक 8) [yoga (Kramastotram) śloka 8]—चित्त-वृत्तियों का निरोध । [Deep and substract meditation.]
19. महाकाली (उपर्युक्त, श्लोक 27) [mahākālī (Kramastotram) śloka 27]—परमेश्वर की एक सृष्टि करनेवाली शक्ति । [A creative power of Lord Śiva.]
20. महेश (उपर्युक्त, श्लोक 28) [maheśa (Kramastotram) śloka 28]—परमतत्त्व । [Supreme power, All Inclussive Universal Consaionsness.]
21. शङ्कर (भैरवस्तवः, श्लोक 4) [śaṅkara (Bhairavastavaḥ) śloka 4]—शिव का एक नाम । [Another name of Lord Śiva.]
22. गणपति (देहस्थ देवताचक्रस्तोत्रम्, श्लोक 1) [gaṇapati (Dehasthadevatācakrastotram) śloka 1]—गणों के स्वामी । [The Lord of Gaṇas (group).]

23. वटुक (उपर्युक्त, श्लोक 2) [vaṭuka (Dehasthadevatācakra-stotram) śloka 2]—एक प्रकार के भैरव का नाम । [Name of a kind of Bhairava.]

24. शिवपथ (उपर्युक्त, श्लोक 4) [śivapatha (Dehasthadevatā-cakrastotram) śloka 4]—शिवत्व प्राप्ति का मार्ग । [The path of attaining to Lord Śiva.]

25. आनन्दभैरवी (उपर्युक्त, श्लोक 5) [ānandabhairavī (Dehastha-devatācakrastotram) śloka 5]—भैरव की सहचरी । [Female companion of Lord Śiva.]

26. सुरेश (उपर्युक्त, श्लोक 6) [sureśa (Dehasthadevatācakrastotram) śloka 6]—शिव । [Śiva.]

27. ब्रह्माणी (उपर्युक्त, श्लोक 6) [brahmāṇī (Dehasthadevatā-cakrastotram) śloka 6]—ब्रह्मा की पत्नी । [The wife of Brahma.]

28. शाम्भवीमम्बा (उपर्युक्त, श्लोक 7) [śāmbhavīmambā (Dehastha-devatācakrastotram) śloka 7]—शम्भु से सम्बद्ध, ब्रह्माणी, माहेश्वरी, वैष्णवी अथवा वामा ज्येष्ठा, रौद्री । [Brahmāṇī, Māheśwarī, Vaiṣṇavī or Vāmā, Jyeṣṭhā, Raudrī related to the Śambhu.]

29. कौमारी (उपर्युक्त, श्लोक 8) [kaumārī (Dehasthadevatā-cakrastotram) śloka 8]—कुमार कार्तिकेय की शक्ति । [The power of Kumār Kārṭikeya.]

30. वैष्णवी (उपर्युक्त, श्लोक 9) [vaiṣṇavī (Dehasthadevatā-cakrastotram) śloka 9]—विष्णु की पत्नी । [The wife of Lord Viśṇu.]

31. उमा (रहस्यपञ्चदशिका, श्लोक 6) [umā (Rahasyapañcadaśikā) śloka 6]—शिव की पत्नी । [The wife of Lord Śiva.]

32. रमा (उपर्युक्त, श्लोक 6) [ramā (Rahasyapañcadaśikā) śloka 6]—भगवती लक्ष्मी का पर्याय । [Another name of Goddess Lakṣmī.]

33. सरस्वती (उपर्युक्त) [sarasvatī (Rahasyapañcadaśikā) śloka 6]—ब्रह्मा की पत्नी का नाम, विद्या की अधिष्ठात्री देवी । [The name of wife of Brahmā.]

34. **वाराही (देहस्थदे., श्लोक 10)** [vārāhī (Dehasthadevatācakra) śloka 10]—वराहरूप धारण करनेवाली शक्ति । [The Bearing power of boar form.]

35. **चामुण्डा (उपर्युक्त, श्लोक 12)** [cāmuṇḍā (Dehasthadevatācakra) śloka 12]—चण्ड-मुण्ड को मारनेवाली शक्ति । [The powr of killing to Caṇḍa and Muṇḍa.]

36. **पञ्चकृत्य (उपर्युक्त, श्लोक 7)** [pañcakṛtya (Dehasthadevatā cakra) śloka 7]—सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह । [creation, existence, destruction, punishmenta and grace.]

37. **पार्वती (उपर्युक्त, श्लोक 15)** [pārvatī (Dehasthadevatā-cakra) śloka 15]—हिमालय पर्वत की पुत्री, शिव की पत्नी । [The daughter of mountain Himalaya, the wife of Lord Śiva.]

38. **भगवती (उपर्युक्त, श्लोक 20)** [bhagavatī (Dehasthadevatā-cakra) śloka 20]—छ भगाङ्गनाओं से युक्त । [Possessing with the six Bhagāṅganas or women with well rounded limbs.]

39. **अनुत्तर (उपर्युक्त, श्लोक 21)** [anuttara (Dehasthadevatācakra) śloka 21]—सर्वोच्चसत्ता, परमतत्त्व । [Supreme power, Highest element, All Inclusive Universal Consciounsness.]

40. **विसर्ग (उपर्युक्त)** [visarga (Dehasthadevatācakra)]—सृष्टि । [Creation or Manifestation.]

41. **प्रथमाविभक्ति (उपर्युक्त, श्लोक 30)** [prathamāvibhakti (Dehastha-devatācakra) śloka 30]—प्रथम सृष्टि । [The first creation.]

42. **मूलाधार (उपर्युक्त, श्लोक 32)** [mūlādhāra (Dehasthadevatācakra) śloka 32]—शरीरस्थ प्रथम चक्र जो पृथिवी तत्त्व प्रधान होता है । [The first circle in the body which contains chiefly earth-element.]

43. **परमेश्वरी (उपर्युक्त, श्लोक 36)** [parameśvarī (Dehasthadevatā cakra) śloka 36]—परमेश्वर की शक्ति । [The power of Parmeśvara.]

44. **भामती (देहस्थ. श्लोक 20)** [bhāmatī (Dehasthadevatācakra) śloka 20]—प्रकाश से सम्पन्न । [Full of light.]

...

श्लोकानुक्रमणिका

...❦...